विवेक-ज्योति

वर्ष ३८, अंक ३ मार्च २००० मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मार्च, २०००

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३८
अंक ३

वार्षिक ५०/- एक प्रति ५/-

आजीवन सदस्य ता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर - ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(१२वीं तालिका)

४५५. श्री विजय कुमार श्रीवास्तव, सीतापुर (म.प्र.)
४५६. श्री सी. बी. सिंह राठौर, मचावगढ़, जालौन (उ.प्र.)
४५७. श्री महेश सिंह ठाकुर, सिंधी बाजार, रायपुर (म.प्र.)
४५८. श्री रमेश देवांगन, सेलुद, दुर्ग (म.प्र.)
४५९. श्री एम. एल. पवार, डंगनिया, रायपुर (म.प्र.)
४६०. श्री एम. के. एस. दीक्षित, महेश्वर, खरगोन (म.प्र.)
४६१. श्री अरुण साव, मालवीय वार्ड, गोन्दिया (महाराष्ट्र)
४६२. डॉ. सुधीर राठौर, जिला अस्पताल परिसर, गुना (म.प्र.)
४६३. डॉ. जी. एस. दवे, विजय नगर, जबलपुर सिटी (म.प्र.)
४६४. श्री डी. एन. शर्मा, सुन्दर नगर, रायपुर (म.प्र.)
४६५. श्री मोहन लाल झँवर, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता
४६६. श्री अंजन सेनगुप्ता, बुढ़ापारा, रायपुर (म.प्र.)
४६७. श्रीमती अरुणा खण्डेलवाल, डहानुकर रोड, मुम्बई (महा.)
४६८. श्री राजेश एम. जोशी, आजवा रोड, बड़ौदा (गुजरात)
४६९. श्री फणीन्द्र मण्डल, कृष्ण नगर, चन्द्रपुर (महाराष्ट्र)
४७०. श्री कैलाश लक्ष्मणराव मोहिते, मुक्ति मार्ग, देवास (म.प्र.)
४७१. श्री जितेन्द्र कुमार तिवारी, पुरानी बस्ती, कोरबा (म.प्र.)
४७२. श्री प्रकाश नारायण सक्सेना, शेरपुरा, विदिशा (म.प्र.)
४७३. श्री मधुसूदन गणकर, नासिक रोड (महाराष्ट्र)
४७४. श्रीरामकृष्ण साधना केन्द्र, होशंगाबाद (म.प्र.)
४७५. श्री बी. पी. टोनपे, बी.डी.ए. कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)
४७६. श्री शिवकुमार तिवारी, शिवाजी नगर, भोपाल (म.प्र.)
४७७. श्री मदल लाल चौहान, रविशंकर नगर, भोपाल (म.प्र.)
४७८. श्री एस. सी. नाथ, ऑफिसर्स कॉलोनी, कोड़िया (म.प्र.)
४७९. श्री महेश शर्मा, जानकी नगर, इन्दौर (म.प्र.)
४८०. श्री बी. सी. वाजपेयी, शास्त्री नगर, जयपुर (राजस्थान)
४८१. श्री ए. ए. राजपुरोहित, इचलकरंजी, कोल्हापुर (महा.)
४८२. श्री चारुचन्द्र वार्ष्णेय, जमशेदपुर (बिहार)
४८३. श्री गीतानन्दन वार्ष्णेय, जमशेदपुर (बिहार)
४८४. श्री राजेन्द्र सी. दुबल, रामकृष्ण नगर, लिमड़ी (गुजरात)
४८५. श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द सेवा केन्द्र, कोल्हापुर (महा.)
४८६. श्री संजय कुमार अग्रवाल, स्टेशन रोड, पीलीभीत (उ.प्र.)
४८७. श्रीमती मनोरमा गुप्ता, सेक्टर ४०-सी, चण्डीगढ़
४८८. डॉ. आर. जे. भालेराव, टाकला, कोल्हापुर (महाराष्ट्र)

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व की उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक रू. ३/- का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को मत भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

विवेक-ज्योति के लिये अपनी रचना भेजते समय कृपया निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी रचनात्मक विषय पर रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के अधिक-से अधिक चार-पाँच पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में उद्धृत श्लोकों आदि के सन्दर्भ का ठीक तथा समुचित विवरण दिया जाय।

(४) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा सम्भव हो तो उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(५) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो अथवा भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(६) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में यथोचित संशोधन करने का सम्पादक को पूरा अधिकार होगा।

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (म. प्र.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

VIVEKANANDAR ILLAM
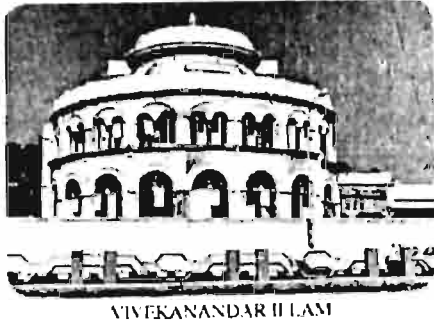
श्रीरामकृष्ण मठ

मयलापुर, चेन्नई - ६०० ००४

फोन -४९४१२३१, ४९४१३५९ फॅक्स : ४९३४५८९

Website · www.sriramakrishnamath.org

email · srkmath@vsnl.com

८ जनवरी १९९९

प्रिय बन्धु,

स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा उपदेशों से प्रत्येक अध्येता के लिए **विवेकानन्दार इल्लम** एक पुनीत भवन तथा तीर्थस्थान है। आपको विदित होगा ही कि सौ वर्ष पूर्व, फरवरी १८९७ ई. में स्वामी विवेकानन्द चेन्नै के आइस हाऊस या कैसल कर्नन नामक इसी बँगले में पधारे थे। उन्होंने यहाँ पूरे नौ दिन निवास करते हुए बहुत-से आगन्तुकों से भेंट की, भजन गाये, प्रार्थना की और ध्यान किया। यह स्थान अब भी उनकी अदृश्य तथा दिव्य उपस्थिति से स्पन्दित है।

उन्होंने इसमें ६ से १४ फरवरी तक निवास किया तथा भारत के पुनर्निर्माण हेतु भावोत्तेजक भाषण दिये, जो अब 'भारतीय व्याख्यान' नामक पुस्तक में उपलब्ध हैं। फिर १८९७ ई. में स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई तथा एक महान सन्त स्वामी रामकृष्णानन्द के तत्त्वावधान में यहाँ रामकृष्ण मठ की स्थापना हुई, जो १९०६ ई. तक इसी पुनीत भवन में से चलता रहा। इस प्रकार यह भवन दक्षिण भारत में रामकृष्ण सघ के प्रथम केन्द्र का निवास होने के साथ ही एक ऐतिहासिक स्थल भी है, जहाँ से स्वामीजी ने पूरे राष्ट्र को सन्देश दिया।

हम यहाँ एक स्थायी प्रदर्शनी बनाना चाहते हैं, जिसमें स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा सन्देश और भारतीय सस्कृति के उच्च तत्त्वों को प्रदर्शित किया जा सके। हमारी अभिलाषा है कि इसे एक ऐसा केन्द्र बनाया जाए, जहाँ से स्वामीजी के जीवनदायिनी सन्देश को पूर्णाकार चित्रों, सुन्दर तैलचित्रों, मॉडलों, वीडियोग्राफ और फिल्मों द्वारा प्रचारित किया जाए।

यह भवन १८४२ ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के दौरान निर्मित हुआ था और सबसे पहले तो इसका समुचित जीर्णोद्धार आवश्यक है। इस परियोजना में लगभग १.५ करोड़ रुपयों की लागत आयेगी। इसका कार्य शीघ्र ही आरम्भ होने जा रहा है, अत: आपसे अनुरोध है कि इस पुण्य कार्य में उदारतापूर्वक सहयोग करके आप श्रीरामकृष्ण के आशीर्वाद तथा विवेकानन्द- अनुरागियों की कृतज्ञता के भाजन बनें। सभी प्रकार के दान आयकर से मुक्त हैं। चेक या ड्राफ्ट कृपया 'रामकृष्ण मठ, चेन्नै' के नाम से भेजें।

मानवता की सेवा में आपका

स्वामी गौतमानन्द

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ३८ मार्च २००० अंक ३

नीति-शतकम्

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात्
समुद्रमपि सन्तरेत् प्रचलदूर्मिमालाऽऽकुलम् ।
भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद् धारयेत्
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥४॥

अन्वय – मकर-वक्त्र-दंष्ट्र-अन्तरात् प्रसह्य मणिम् उद्धरेत्, प्रचलद्-उर्मि-माला-आकुलं समुद्रं अपि सन्तरेत्, कोपितं भुजङ्गम् अपि पुष्पवत् शिरसि धारयेत्, तु प्रतिनिविष्ट-मूर्ख-जन-चित्तं न आराधयेत् ॥

भावार्थ – हो सकता है कि कोई व्यक्ति घड़ियाल के मुख में स्थित दाँतों से बलपूर्वक मणि को निकाल ले, सम्भव है कोई प्रचण्ड तरंगों से क्षुब्ध समुद्र को भी तैरकर पार ले, हो सकता है कि कोई क्रोधित सर्प को भी पुष्प के समान सिर पर धारण कर ले, परन्तु दुराग्रह से ग्रस्त मूर्ख के चित्त को कोई भी सन्तुष्ट नहीं कर सकता ॥

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ।
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेत्
न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥५॥

अन्वय – यत्नतः पीडयन् सिकतासु अपि तैलं लभेत्, च पिपासा-अर्दितः मृग-तृष्णिकासु सलिलं पिबेत्, पर्यटन् कदाचित् शशविषाणम् अपि आसादयेत्, तु प्रतिनिविष्ट-मूर्खजन-चित्तं न आराधयेत् ॥

भावार्थ – सम्भव है कि कोई प्रयासपूर्वक बालू को भी पेरकर उससे तेल निकाल ले, प्यास से पीड़ित होकर हो सकता है कि कोई मृग-मरीचिका से भी पानी निकालकर पी ले और घूमते हुए शायद कहीं खरगोश का सिंग भी प्राप्त हो जाय, परन्तु दुराग्रह से ग्रस्त मूर्ख के चित्त को कोई भी सन्तुष्ट नहीं कर सकता ॥

– भर्तृहरि

रामकृष्ण-वन्दना

- १ -

ठाकुर मेरे प्राणाधार, भवसागर के तारणहार ।
आन विराजो हृदि शतदल पर, बन जाओ जीवन के सार ।।

प्राणपुष्प से तुम्हें सजाऊँ, सम्मुख प्रज्ञादीप जलाऊँ,
कण्ठ तुम्हारे पहनाऊँगा, भाव-भक्ति के शोभन हार ।।

जीवनधन सर्वस्व तुम्हीं हो, तुमसे विचलित चित न कभी हो,
शरणागत हूँ तव चरणों का, तन-मन-धन-जन सब कुछ वार ।।

इस युग का अवसाद मिटाने, प्रेमामृत का स्वाद चखाने,
आये हो तुम मर्त्यलोक में, लेकर रामकृष्ण अवतार ।।

अपनाओ इस दीन दास को, करो संक्रमित निज हुलास को,
अब तो मुझ पर भी दिखलाओ, करुणा अपनी अपरम्पार ।।

- २ -

बालसूर्य की आभा लेकर कुसुमों से मुस्कान,
चन्द्रादेवी की गोदी में प्रगटे हैं भगवान ।।

पंचभूतमय धर नर काया, लीला करते सह निज माया,
कृपादृष्टि जब तक ना होवे, कौन सके पहचान ।। चन्द्रा. ।।

चरण कमल आरक्त पद्म ज्यों, मँडराते नित भक्त भ्रमर हो,
उनकी महिमा गुंजन करते, और सुधारस पान ।। चन्द्रा. ।।

करते सारा जग आलोकित, निरत सदा आश्रितजन के हित,
अभय और वर देकर सबका, करते हैं कल्याण ।। चन्द्रा. ।।

– विदेह

भारत की वर्तमान अवनति

स्वामी विवेकानन्द

(रामकृष्ण मिशन के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द जी ने स्वामी विवेकानन्द की अंग्रेजी ग्रंथावली में यत्र-तत्र बिखरे भारत तथा उसकी समस्याओं से सम्बन्धित विचारों का एक संकलन बनाया था। यह संकलन स्वामीजी के भारत-विषयक विचारों को समझने में काफी उपयोगी है तथा इसीलिए अतीव लोकप्रिय भी हुआ। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिए भी इसका हिन्दी रूपान्तरण प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

इसके कारण

दोष हमारा ही है : वेदान्ती के रूप में हम निश्चित रूप से जानते हैं कि यदि हम स्वयं ही पहले अपने को हानि न पहुँचाएँ, तो संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं, जो हमारा नुकसान कर सके। अत: हमें दूसरों को दोष न देकर इसे अपने ही कर्मों का दोष मानना चाहिए। मानव-शरीर में तब तक किसी प्रकार के रोगाणुओं का आक्रमण नहीं हो सकता, जब तक वह दुराचरण, कुखाद्य और असंयम के कारण पहले से ही दुर्बल और असक्त नहीं हो जाता। स्वस्थ आदमी हर प्रकार के विषैले जीवाणुओं के बीच रहकर भी उनसे बचा रहता है। कार्य और कारण दोनों यहीं विद्यमान हैं। दोष वस्तुत: हमारा ही है। हिम्मत बाँधकर खड़े हो जाओ और सारा दोष अपने ही सिर पर ले लो। दूसरों पर दोष न मढ़ो, क्योंकि तुम जो कष्ट भोग रहे हो, उसके एकमात्र कारण तुम्हीं हो।

अतीत की अवहेलना : जो लोग सदैव अपने अतीत की ओर दृष्टि लगाए रहते हैं, आजकल सभी उनकी निन्दा किया करते हैं। उनका कहना है कि इस प्रकार निरन्तर अतीत की ओर देखते रहने के कारण ही हिन्दू जाति को नाना प्रकार के दु:ख और आपदाएँ भोगनी पड़ी हैं। परन्तु मेरी तो धारणा है कि सत्य इसके उल्टा ही है। जब तक हिन्दू जाति अपने अतीत को भूली हुई थी, तब तक वह संज्ञाहीन अवस्था में पड़ी रही और अतीत की ओर उसकी दृष्टि जाते ही चहुँ ओर पुनर्जीवन के लक्षण दिखाई दे रहे हैं।

भारतीय इतिहास का हर विचारशील अध्येता यह जानता है कि भारत के सामाजिक विधान प्रत्येक युग में बदलते रहे हैं। आरम्भ में ये नियम एक ऐसी विराट् योजना के पुंजीभूत रूप थे, जिसे क्रमश: भविष्य मे फलीभूत होना था। प्राचीन भारत के ऋषिगण इतने दूरदर्शी थे कि उनकी ज्ञानराशि के महत्व को समझने में विश्व को अब भी सदियों तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी; और उनके वंशधरों द्वारा इस महान् उद्देश्य को पूर्ण रूप से ग्रहण करने की यह अक्षमता ही भारत की अवनति का एकमात्र कारण है।

दृष्टिकोण की संकीर्णता : हम देखते है कि पतन के विभिन्न कारणों में से हमारी दृष्टि तथा कार्यक्षेत्र की संकीर्णता भी एक है। हम लोग दूसरे राष्ट्रों से अपनी तुलना करने के लिये विदेश नहीं गये और हमने संसार की गति पर ध्यान रखकर चलना नहीं सीखा। यही है भारतीय मन की अवनति का प्रधान कारण।

भारत के पतन तथा दु:ख-दारिद्र्य का प्रधान कारण यह है कि उसने घोंघे की तरह सर्वांग समेटकर अपना कार्यक्षेत्र संकुचित कर लिया था तथा सत्य की इच्छुक अन्य आर्येतर मानव-जातियों के लिये अपने जीवनदायी सत्य-रत्नों का भण्डार नहीं खोला था। मुझे पूर्ण विश्वास है कि कोई भी मनुष्य या राष्ट्र स्वयं को दूसरों से अलग रखकर जी नहीं सकता और जब कभी भी गौरव, नीति या पवित्रता की भ्रान्त धारणा के चलते ऐसा प्रयत्न किया गया है; उसका परिणाम उस अलग होने वाले पक्ष के लिये सदैव घातक सिद्ध हुआ है। मेरी समझ में भारतवर्ष के पतन और अवनति का एक प्रधान कारण जाति के चारों ओर रीति-रिवाजों की एक ऐसी दीवार खड़ी कर देना था, जिसकी नींव दूसरों के प्रति घृणा पर आधारित थी और जिसका वास्तविक उद्देश्य प्राचीन काल में हिन्दू जाति को आसपास की बौद्ध जातियों के संसर्ग से अलग रखना था। प्राचीन या नवीन तर्कजाल इसे चाहे जिस तरह से ढँकने का प्रयत्न करे, परन्तु कोई भी बिना स्वयं को अध:पतित किये दूसरों से घृणा नहीं कर सकता – इस सामान्य नैतिक नियम के अनुसार इसका अनिवार्य फल यह हुआ कि जो जाति सभी प्राचीन जातियों में सर्वश्रेष्ठ थी, उसका नाम पृथ्वी की जातियों में एक साधारण घृणासूचक शब्द-सा हो गया है। हम उस सार्वभौमिक नियम की अवहेलना के परिणाम के प्रत्यक्ष दृष्टान्त स्वरूप हो गये है, जिसका हमारे ही पूर्वजों ने सर्वप्रथम आविष्कार तथा विवेचन किया था।

धर्म में विकृति : जिस देश के बड़े बड़े शीर्ष-स्थानीय नेता आज दो हजार वर्षों से सिर्फ यही विचार कर रहे हैं कि दाहिने हाथ से खाएँ या बाएँ हाथ से; पानी दाहिनी ओर से लें या बायीं ओर से, उनकी अधोगति न हो, तो किसकी होगी?

पिछले छह-सात शताब्दियों के लगातार पतन पर विचार करो – जबकि सैकड़ों समझदार आदमी सिर्फ इस विषय को लेकर वर्षों तर्क करते रह गये कि लोटा-भर पानी दाहिने हाथ से पीया जाय या बाएँ हाथ से, हाथ चार बार धोया जाय या पाँच बार और कुल्ला पाँच दफे करना ठीक है या छह दफे। ऐसे आवश्यक प्रश्नों के लिये तर्क पर तुले हुए पूरा जीवन पार कर देनेवाले और इन विषयों पर अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण दर्शन लिख डालनेवाले पण्डितों से और क्या आशा कर सकते हो!

हमारे धर्म के लिये भय यही है कि अब वह रसोईघर में घुसना चाहता है। हममें से अधिकांश लोग इस समय न तो वेदान्ती हैं, न पौराणिक और न तांत्रिक; हम हैं 'छूतधर्मी' अर्थात् 'हमें न छुओ' – इस धर्म के माननेवाले। रसोईघर में हमारा धर्म है। हमारा ईश्वर है 'भात की हाँड़ी' और मंत्र है 'हमें न छुओ, हमें न छुओ, हम महापवित्र हैं।' यदि यही भाव एक शताब्दी और चला, तो हममें से प्रत्येक की हालत पागलखाने में कैद होने लायक हो जायेगी। मन जब जीवन-सम्बन्धी ऊँचे तत्त्वों पर विचार नहीं कर सकता, तब समझना कि मस्तिष्क दुर्बल हो गया है। जब मन की शक्ति नष्ट हो जाती है, उसकी क्रियाशीलता, उसकी चिन्तन-शक्ति चली जाती है, तब उसकी सारी मौलिकता नष्ट हो जाती है। फिर वह छोटे-से-छोटे दायरे के भीतर चक्कर लगाता रहता है।

आम जनता पर अत्याचार : मैं समझता हूँ कि हमारा सबसे बड़ा राष्ट्रीय पाप जन-समुदाय की उपेक्षा है और वह भी हमारे पतन का एक कारण है। हम चाहे जितनी भी राजनीति करें, उससे तब तक कोई लाभ नहीं होगा, जब तक कि भारत का जन-समुदाय एक बार फिर सुशिक्षित, सुपोषित और सुपालित नही होता। वे हमारी शिक्षा के लिये धन देते हैं, हमारे लिए मन्दिर बनाते हैं और बदले में पाते हैं ठोकरें। वे व्यवहारत: हमारे दास हैं। यदि हम भारत को पुनर्जीवित करना चाहते हैं, तो हमें उनके लिये काम करना होगा।

महिलाओं की उपेक्षा : प्राचीन काल में मनु ने कहा है, '**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:** – जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता प्रसन्न रहते हैं।' हम महापापी हैं; स्त्रियों को 'घृणित कीट', 'नरक के द्वार' आदि कहकर हम अध:पतित हुए हैं। प्रभु ने कहा है, '**त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी** – तुम्हीं स्त्री और तुम्हीं पुरुष हो; तुम्हीं कुमार और तुम्हीं कुमारी हो।' (श्वेत. उप.) इत्यादि; और हम कह रहे हैं, '**केनैषा निर्मिता नारी मोहिनी** – किसने इस मोहिनी नारी को बनाया है?'

इस देश में पुरुष और स्त्रियों के बीच इतना अन्तर क्यों समझा जाता है, यह समझना कठिन है। वेदान्त में तो कहा है कि एक ही चैतन्य सत्ता सर्वभूतों में विद्यमान है। तुम लोग स्त्रियों की केवल निन्दा ही करते रहते हो। उनकी उन्नति के लिये तुमने क्या किया, बोलो तो? स्मृति आदि लिखकर, नियम-नीति में आबद्ध करके इस देश के पुरुषों ने स्त्रियों को एकदम 'बच्चा पैदा करने की मशीन' बना डाला है। महामाया की साक्षात् मूर्तिरूप इन स्त्रियों का उत्थान हुए बिना क्या तुम लोगों की उन्नति सम्भव है?

पतन के लक्षण तथा उनका निवारण

सांस्कृतिक अपधर्म और रूढ़िवाद : मेरी दृष्टि में भारत के लिये कई आपदाएँ खड़ी हैं। एक तरफ पर्वत और दूसरी ओर खाई के समान घोर भौतिकवाद और उसकी प्रतिक्रिया से उत्पन्न घोर अन्धविश्वास से हमें अवश्य बचना होगा।

आज हमें एक तरफ वह मनुष्य दिखाई पड़ता है, जो पाश्चात्य ज्ञानरूपी मदिरापान से मत्त होकर अपने को सर्वज्ञ समझता है। वह प्राचीन ऋषियों की हँसी उड़ाया करता है। उसके लिये हिन्दुओं के सब विचार बिल्कुल वाहियात चीज हैं, हिन्दू दर्शनशास्त्र बच्चों का कलरव मात्र है और हिन्दू धर्म मूर्खों का अन्धविश्वास मात्र है।

दूसरे का अनुकरण करना सभ्यता की निशानी नहीं है। मैं यदि स्वयं ही राजा की पोशाक पहन लूँ, तो क्या इतने से ही मैं राजा बन जाऊँगा? शेर की खाल ओढ़कर गधा कभी शेर नहीं बन सकता। अनुकरण करना, हीन और डरपोक की तरह अनुकरण करना कभी उन्नति के पथ पर आगे नहीं बढ़ा सकता। वह तो मनुष्य के अध:पतन का लक्षण है। जब मनुष्य अपने आप से घृणा करने लग जाता है, तब समझना चाहिये कि उस पर अन्तिम चोट बैठ चुकी है। जब वह अपने पूर्वजों को मानने में लज्जित होता है, तो समझ लो कि उसका विनाश निकट है। ... भारत के इस राष्ट्रीय जीवन को भूल मत जाना। पल भर के लिये भी ऐसा न सोचना कि भारत के सभी लोग यदि अमुक जाति की वेशभूषा धारण कर लेते या अमुक जाति के आचार-व्यवहार आदि के अनुयायी बन जाते, तो बड़ा अच्छा होता।

दूसरी तरफ वह आदमी है, जो शिक्षित तो है, परन्तु उस पर किसी एक चीज की सनक सवार है और वह उल्टी राह लेकर हर छोटी-मोटी बात का अलौकिक अर्थ निकालने की कोशिश करता है। अपनी विशेष जाति, देवी-देवताओं या गाँव से सम्बन्ध रखनेवाले जितने भी अन्धविश्वास हैं, उनको उचित सिद्ध करने के लिये दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा बच्चों को सुहानेवाले न जाने क्या क्या तर्क उसके पास सर्वदा ही मौजूद हैं। उसके लिये प्रत्येक ग्राम्य अन्धविश्वास वेदों की आज्ञा है और उसकी समझ में उसके क्रियान्वन पर ही राष्ट्रीय

जीवन निर्भर है । तुम्हें इससे सावधान रहना होगा ।

बात यह है कि हमारे अधिकांश अन्धविश्वास, हमारी देह पर बहुत से बुरे धब्बे तथा घाव हैं । इनको काटकर और चीर-फाड़ करके एकदम निकाल देना होगा, नष्ट कर देना होगा । इनके नष्ट होने से हमारा धर्म, हमारा राष्ट्रीय जीवन और हमारी आध्यात्मिकता नष्ट नहीं होगी । प्रत्येक धर्म का मूल तत्त्व सुरक्षित है और जितनी जल्दी ये धब्बे मिटाये जायेंगे, उतने ही अधिक ये मूल तत्त्व चमकेंगे । इन्हीं पर डटे रहो ।

शारीरिक दुर्बलता : हमारे उपनिषद् कितने ही महत्वपूर्ण क्यों न हो, हम अपने पूर्वज ऋषियों पर चाहे जितना भी गर्व करें, मैं आप लोगों से स्पष्ट भाषा में कहे देता हूँ कि अन्य अनेक जातियों की तुलना में हम दुर्बल हैं, अत्यन्त दुर्बल है । प्रथम तो है हमारी शारीरिक दुर्बलता । यह शारीरिक दुर्बलता कम-से-कम हमारे एक तिहाई दु:खों का कारण है ।

हमारे युवकों को बलवान बनना होगा । धर्म पीछे आयेगा । हे मेरे युवक बन्धुओ, तुम बलवान बनो – यही तुम्हारे लिये मेरा उपदेश है । गीता पाठ करने की अपेक्षा तुम्हें फुटबाल खेलने से स्वर्ग-सुख अधिक सुलभ होगा । बलवान शरीर से अथवा मजबूत पुट्ठों से तुम गीता को अधिक समझ सकोगे । शरीर में ताजा रक्त होने से तुम कृष्ण की महती प्रतिभा और महान् तेजस्विता को भली-भाँति समझ सकोगे । जिस समय तुम्हारा शरीर तुम्हारे पैरों के बल दृढ़तापूर्वक खड़ा होगा, जब तुम अपने को मनुष्य समझोगे, तभी तुम उपनिषद् और आत्मा की महिमा ठीक ठीक समझोगे । मैं जो चाहता हूँ वह है लोहे की नसें और फौलाद के स्नायु, जिनके भीतर ऐसा मन निवास करता हो, जो कि वज्र के समान पदार्थ का बना हो । बल, पुरुषार्थ, क्षात्रवीर्य और ब्रह्मतेज ।

आत्मश्रद्धा का अभाव : हम श्रद्धा खो बैठे हैं । क्या तुम मेरे इस कथन पर विश्वास करोगे कि हम अंग्रेजों की अपेक्षा कम आत्मश्रद्धा रखते है – हजारों गुना कम आत्मश्रद्धा रखते हैं! हम तैंतीस करोड़ भारतवासी हजारों वर्ष से मुट्ठी भर विदेशियों के द्वारा शासित और पद-दलित क्यों हैं? इसका यहीं कारण है कि हमारे ऊपर शासन करने वालों में अपने आप पर श्रद्धा थी, परन्तु हममे वह बात नहीं थी । आज हमें श्रद्धा की आवश्यकता है, आत्मविश्वास की आवश्यकता है । बल ही जीवन और निर्बलता ही मृत्यु है ।

पराजित राष्ट्र होने के कारण हमें यह विश्वास हो गया है कि हम शक्तिहीन और हर बात में परावलम्बी हैं । अत: श्रद्धा नष्ट न हो, तो क्या हो? अब हमे एक बार पुन: उस सच्ची श्रद्धा का भाव जाग्रत करना होगा, अपने सुप्त आत्मविश्वास को जगाना होगा, तभी आज देश के सामने जो समस्याएँ हैं, उनका स्वयं हमारे ही द्वारा क्रमश: समाधान हो सकेगा ।

अपने आप पर श्रद्धा करना सीखो । इसी आत्मश्रद्धा के बल से अपने पैरों आप खड़े हो और शक्तिशाली बनो । इस समय हमें इसी की आवश्यकता है । 'हम आत्मा हैं – अजर, अमर, मुक्त और शुद्ध । फिर हमसे पाप कार्य कैसे सम्भव है? असम्भव' – इस प्रकार की दृढ़निष्ठा होनी चाहिये । इस प्रकार का अडिग विश्वास हमें मनुष्य बना देता है, देवता बना देता है । विश्वास रखो कि अनेक महान् कार्य करने के लिये तुम सबका जन्म हुआ है । हममें से प्रत्येक को यही विश्वास रखना चाहिये कि संसार के अन्य सभी लोगों ने अपना अपना कार्य सम्पन्न कर डाला है, एकमात्र मेरा ही कार्य शेष है और जब मैं कार्य का अपना भाग पूरा करूँगा, तभी संसार पूर्ण होगा । हमें यह उत्तरदायित्व शिरोधार्य करना होगा । हमारे राष्ट्रीय खून में एक तरह के भयानक रोग का बीज समा रहा है और वह है प्रत्येक विषय को हँसकर उड़ा देना तथा गाम्भीर्य का अभाव । इस दोष का पूर्ण रूप से त्याग करो । वीर बनो, श्रद्धासम्पन्न होओ और बाकी सब कुछ तो इसके बाद ही आ जायेगा ।

स्वावलम्बन का अभाव : हमारे सम्पूर्ण राष्ट्र का चरित्र बालकों की तरह दूसरों पर निर्भर रहने का है । यदि कोई उनके सामने खाद्य-सामग्री रख दे, तो वे खाने के लिये सदा प्रस्तुत रहेंगे और कुछ लोग तो ऐसे भी हैं कि यदि उन चीजों को उनके मुँह में डाल दिया जाय, तो उनके लिये और भी अच्छा । यदि तुम लोग स्वयं अपनी सहायता नहीं कर सकते, तो तुम जीवित रहने के अधिकारी नहीं हो । हमेशा याद रखो कि प्रत्येक राष्ट्र को अपनी रक्षा स्वयं करनी होगी । इसी तरह प्रत्येक मनुष्य को भी अपनी अपनी रक्षा करनी होगी । दूसरों से सहायता की आशा न रखो । विदेशी सहायता पर कतई निर्भर मत रहो । व्यक्ति की तरह राष्ट्र को भी अपनी सहायता आप ही करनी चाहिये । यही यथार्थ देशप्रेम है । यदि कोई राष्ट्र ऐसा करने में असमर्थ हो, तो यह कहना पड़ेगा कि अभी उसका समय नही आया है, उसे प्रतीक्षा करनी पड़ेगी ।

आज्ञापालन का अभाव : हर व्यक्ति हुकूमत करना चाहता है, परन्तु कोई भी आज्ञापालन करने को तैयार नही है और यह सब इसलिये है कि प्राचीनकाल के उस अद्भुत ब्रह्मचर्य-आश्रम का अब पालन नही किया जाता । पहले आदेश पालन करना सीखो, फिर आदेश देना स्वयं ही आ जायेगा । सर्वदा पहले दास होना सीखो, तभी तुम स्वामी हो सकोगे । ... यदि तुम्हारे वरिष्ठ तुम्हें आज्ञा दें कि तुम नदी में कूद पड़ो और एक घड़ियाल पकड़ लाओ, तो तुम्हारा कर्तव्य यह होना चाहिये कि पहले तुम आज्ञापालन करो और उसके बाद कारण पूछो । भले ही तुम्हें दी हुई आज्ञा ठीक न हो, तथापि तुम पहले उसका पालन करो और तब उसका प्रतिवाद करो । अपने में आज्ञापालन का गुण लाओ, परन्तु अपनी

श्रद्धा को मत खोना। गुरुजनों के अधीन हुए बिना कभी भी शक्ति केन्द्रीभूत नहीं हो सकती और बिखरी हुई शक्तियों को केन्द्रीभूत किये बिना कोई महान कार्य नहीं हो सकता।

आलस्य, स्वार्थ तथा ईर्ष्या : बातें, बातें, बातें! यहाँ इनकी कमी नही है। 'हम बड़े हैं', 'हम बड़े हैं!' सब थोथी बकवास है! हम लोग जड़बुद्धि हैं, और यही तो हैं! तोते के समान बातें करना हमारा अभ्यास हो गया है – आचरण में हम बहुत पिछड़े हुए हैं। इसका कारण क्या है? दुर्बल मस्तिष्क कुछ नही कर सकता, हमें इसको बलवान बनाना होगा।

हम आलसी हैं, हम कार्य नहीं कर सकते; हम पारस्परिक एकता स्थापित नही कर सकते, हम एक-दूसरे से प्रेम नहीं करते, हम बड़े स्वार्थी हैं, हम तीन मनुष्य एकत्र होते ही एक-दूसरे से घृणा करते हैं, ईर्ष्या करते हैं। हमारी इस समय ऐसी अवस्था है कि हम पूर्णत: असंगठित हैं, घोर स्वार्थी हो गये हैं, सदियों से इसलिये झगड़ते हैं कि तिलक इस तरह लगाना चाहिये या उस तरह। अमुक व्यक्ति की नजर पड़ने से हमारा भोजन दूषित होगा या नही, ऐसी गुरुतर समस्याओं के ऊपर हम बड़े बड़े ग्रन्थ लिखते हैं।

संगठन-शक्ति का अभाव : संगठन की शक्ति का हमारे स्वभाव में पूर्णतया अभाव है, उसका विकास करना होगा। इसका सबसे बड़ा रहस्य ईर्ष्या का अभाव होना है। अपने भाइयों के विचारों को मान लेने के लिये सदैव प्रस्तुत रहो और उनसे हमेशा मेल बनाए रखने की कोशिश करो। ... किसी संगठन या संघ में इतनी शक्ति क्यों होती है? इसका क्या कारण है, अथवा वह कौन-सी वस्तु है जिसके द्वारा कुल चार करोड़ अंग्रेज पूरे तीस करोड़ भारतवासियों पर शासन करते हैं? इस प्रश्न का मनोवैज्ञानिक समाधान क्या है? यही कि वे चार करोड़ मनुष्य अपनी अपनी इच्छाशक्ति को समवेत कर देते हैं अर्थात् शक्ति का अनन्त भण्डार बना लेते हैं और तुम तीस करोड़ लोग अपनी अपनी इच्छाओं को एक-दूसरे से पृथक किये रहते हो। अत: यदि भारत को महान बनाना है, उसका भविष्य उज्ज्वल बनाना है, तो इसके लिये आवश्यकता है संगठन की,शक्ति-संग्रह की और बिखरी हुई इच्छा-शक्ति को एकत्र कर उसमें समन्वय लाने की। अथर्ववेद संहिता की एक विलक्षण ऋचा मुझे याद आती है, जिसमें कहा गया है –

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।। (६.६४.१)

– "तुम सब लोग एक मन हो जाओ, सब लोग एक ही विचार के बन जाओ, क्योंकि प्राचीनकाल में एकमन होने के कारण ही देवताओं ने बलि पाई है।"

एक मन हो जाना ही समाज-गठन का रहस्य है। और यदि तुम 'आर्य' और 'द्रविड़', 'ब्राह्मण और अब्राह्मण' जैसे तुच्छ विषयों को लेकर 'तू तू मैं मैं' करोगे – झगड़े और पारस्परिक विरोध-भाव को बढ़ाओगे – तो समझ लो कि तुम उस शक्ति-संग्रह से दूर हटते जाओगे, जिसके द्वारा भारत का भविष्य बनने जा रहा है। इस बात को याद रखो कि भारत का भविष्य सम्पूर्णतया इसी पर निर्भर करता है। बस, इच्छा-शक्ति का संचय और उनका समन्वय कर उन्हें एकमुखी करना – यही सारा रहस्य है।

व्यावसायिक ईमानदारी का अभाव : व्यावसायिक मामलों में हिन्दुओं में एक अजीब-सी ढिलाई देखी जाती है – बेतरतीब हिसाब-किताब और बेसिलसिले का कारबार। भारत में जो काम साझे में होता है, वह एक ही दोष के बोझ से डूब जाता है। हम अभी तक व्यावसायिक दृष्टिकोण विकसित नही कर सके हैं। अपने वास्तविक अर्थ में व्यवसाय व्यवसाय ही है, मित्रता नहीं, जैसी कि हिन्दू कहावत है, 'मुँहदेखी' नहीं होनी चाहिए। अपने जिम्मे जो हिसाब-किताब हो, वह बड़ी सफाई से रखना चाहिये और एक कोष का धन किसी अन्य काम में कदापि नहीं लगाना चाहिये, चाहे दूसरे क्षण भूखे ही क्यों न रहना पड़े। यही है व्यावसायिक ईमानदारी। दूसरी बात यह कि कार्य करने की अटूट शक्ति हो। जो कुछ तुम करते हो, उस समय के लिये उसे अपनी पूजा समझो।

प्रेम का अभाव : कोई भी व्यक्ति, कोई भी राष्ट्र दूसरों से घृणा करके जीवित नहीं रह सकता। भारत के भविष्य का निपटारा उसी दिन हो गया था, जब उसने 'म्लेच्छ' शब्द का आविष्कार किया और दूसरी जातियों के साथ मेलजोल बन्द कर दिया। ... प्रेम कभी निष्फल नहीं होता; आज, कल या युगों के बाद, परन्तु सत्य की विजय अवश्य होगी। प्रेम ही मैदान जीतेगा। क्या तुम अपने भाई – मनुष्य जाति – को प्यार करते हो? ❖ **(क्रमश:)** ❖

ध्यान से मनोनिग्रह

ध्यान के द्वारा मन की वृत्तिरूपी लहरें दब जाती हैं। यदि तुम दिन पर दिन, मास पर मास, वर्ष पर वर्ष, इस ध्यान का अभ्यास करो - जब तक कि वह तुम्हारे स्वभाव में भिद न जाय, जब तक कि तुम्हारे इच्छा न करने पर भी वह ध्यान अपने आप आने लगे - तो क्रोध, घृणा आदि वृत्तियाँ संयत हो जाएँगी।

– स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(सतहत्तरवाँ प्रवचन – प्रथमांश)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बंगला में जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे संकलित होकर छह भागों में प्रकाशित हुए है। इनकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इन्हे धारावाहिक रूप से प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – सं.)

साधना पथ का विघ्न – दुष्टता

श्रीरामकृष्ण बातचीत के दौरान ही विभिन्न प्रकार के उपदेश दिया करते थे। यह समझाने के लिये कि संसारी लोग किस प्रकार सोचते हैं, वे यहाँ पर यदु मल्लिक की बात कह रहे हैं। गाड़ी का किराया तीन रुपया दो आना सुनकर यदु मल्लिक ने कई लोगों से पूछकर पता लगा लिया, तब कहीं तीन रुपये दिये, फिर भी दो आने नहीं दिये। कहाँ मकान बिक रहा है, कहाँ जमीन बिक रही है, इसकी खबर लेकर दलाल आया है। यदु को खरीदना नहीं है, तो भी पूछ रहे हैं कि दाम कितना है? कुछ कम भी करेगा क्या? ठाकुर ने कहा, "जब तुम्हें खरीदना नहीं है, तो बेकार में कीमत क्यों पूछ रहे हो?" इस पर वे हँसने लगे। सचमुच ही खरीदना नहीं था। तो भी वे चाहते थे कि लोग उनके यहाँ आना-जाना करें। यदु मल्लिक के घर में आये एक व्यक्ति को देखकर ठाकुर समझ गये थे कि वह बड़ा चतुर और दुष्ट स्वभाव का है। उससे कहा था, "चतुर होना अच्छा नहीं। कौआ बड़ा सयाना बनता है, परन्तु दूसरों का गू खाता है।" ठाकुर को बोलने में कोई झिझक नहीं थी। सब कुछ स्पष्ट रूप से सामने ही बोल देते थे। परन्तु सभी को मालूम था कि ठाकुर के मन में कोई द्वेषभाव नहीं है, इसीलिये उनकी ऐसी सीधी बातें भी किसी किसी के मन में थोड़ा-बहुत लग जाने पर भी, अगले क्षण ही उसका विस्मरण हो जाता था, क्योंकि वे सभी के प्रति समभाव रखते थे, स्नेह करते थे, करुणामय थे और सभी लोग इसका अनुभव भी करते थे।

हरि ने अपनी पत्नी को 'माँ' कहा है – नारायण के मुख से यह सुनकर ठाकुर बोले, "यह क्या! मैं ही नहीं सकता और उसने 'माँ' कहा! बात यह है कि लड़का बड़ा शान्त है, ईश्वर की ओर मन है।" सामयिक उच्छ्वास के चलते मुख से बहुत कुछ निकल जाता है, परन्तु उस भाव में दृढ़ रह पाना बड़ा कठिन है। इसके बाद वे कहते हैं, "हेम ने क्या कहा था जानते हो? बाबूराम से उसने कहा – एक ईश्वर ही सत्य हैं और सब मिथ्या।" हममें से अनेक लोग बीच बीच में इस तरह बोलते रहते हैं, परन्तु इसकी धारणा करना बड़ा कठिन है। ठाकुर यहाँ कह रहे हैं – उसने आन्तरिक भाव से ही कहा था। तो भी वह सभी बातें आन्तरिक भाव से कहता हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उसने कहा था कि वह ठाकुर को घर ले जाकर कीर्तन सुनाएगा, परन्तु ले नहीं गया। हो सकता है कि यह बात उसने आन्तरिक भाव से न कही हो। बाद में उसने बताया था कि लोक-लज्जा के कारण उसने ऐसा नहीं किया।

साधन-पथ में सावधानी

इसके बाद की बातें पुरुषों को महिलाओं से दूर रहने के लिये सावधानी बरतने हेतु है। यहाँ सभी श्रोता पुरुष हैं, इसलिये किसी के विषय में कुछ छिपाकर कहने की आवश्यकता नहीं थी। जब वे महिलाओं के सामने बोलते, तो इसी प्रकार कठोरता के साथ उन्हें पुरुषों के विषय में सावधान कर देते। आध्यात्मिक मार्ग पर चलना कोई सहज बात नहीं है, बड़ी सावधानीपूर्वक चलना पड़ता है। पग पग पर पाँव फिसल जाने का भय बना रहता है। इसीलिये ठाकुर दोनों को ही खूब सावधान कर दे रहे हैं। यहाँ तक कि जहाँ ऊपरी तौर से खूब भक्तिभाव का शुद्ध सम्बन्ध प्रतीत होता है, वहाँ भी अशुद्धि आने में अधिक समय नहीं लगता। फिर उच्च भाव से नीचे पतित होने में भी ज्यादा समय नहीं लगता। ऊपर उठना कठिन है, परन्तु नीचे अनायास ही उतरा जा सकता है। ठाकुर कहा करते थे कि नीचे उतरने का रास्ता मानो ढालू रास्ता है। वे दृष्टान्त देते थे – किले के अन्दर जाते समय बिल्कुल भी न जान सका कि नीचे जा रहा हूँ; पहुँचने पर मालूम हुआ कि कितना नीचे आ गया हूँ। साधारण मन की यही अवस्था है। इसीलिये सदा सावधान रहने की आवश्यकता है। यहाँ तक कि शुद्धाभक्ति के भीतर भी सम्भव है कि कामना का बीज छिपा हो, इसीलिये सावधानीपूर्वक चलना पड़ता है। केवल मन के ही शुद्ध रहने से नहीं होता, व्यावहारिक शुद्धि की भी जरूरत है। मन को अनुकूल परिवेश के भीतर रखना पड़ता है। परिवेश के विषय में सावधान न रहने पर शुद्ध मन के भीतर भी अशुद्धि का प्रवेश होते देर नहीं लगती।

श्रीमाँ जब जहाँ कहीं भी रहतीं, तो सगे-सम्बन्धियों के अतिरिक्त भक्त-महिलाएँ भी उनके साथ साथ रहती थीं। जरूरत पड़ने पर भी साधुओं का बारम्बार वहाँ जाना माँ को पसन्द न था। वे स्वयं वहाँ उपस्थित थीं, उनके समान एक महान् आध्यात्मिक विभूति ने परिवेश को उच्च भाव में उन्नीत कर रखा है, तो भी वे मना करती हैं – बेटा, तुम लोग मत

आओ। माँ अपने शिष्यों तक से कहतीं – यह स्त्री-शरीर है न, इसीलिये थोड़ा पार्थक्य रखना ही पड़ता है।

चैतन्यदेव ने छोटे हरिदास का इस कारण परित्याग कर दिया था कि उन्होंने विधवा महिला का निमंत्रण स्वीकार किया था। स्वामी विवेकानन्द ने भी अपने शिष्य स्वामी शुद्धानन्द को महिलाओ के आश्रम में जाने से मना किया था। जिनको उन्होंने मना किया था, वे अत्यन्त शुद्ध स्वभाव थे, नाम भी शुद्धानन्द था और वे स्वामीजी के मानो दाहिने हाथ थे। इतनी सावधानी की क्या आवश्यकता?, इसलिए कि एक ऊँचे आदर्श को अक्षुण्ण रखना होगा। जहाँ आदर्श जितना ऊँचा होता है, वहाँ सावधानी की यह वाणी भी उतनी ही स्पष्ट होती है। आदर्श में जरा भी गिरावट आने पर, उस पर से मनुष्य की श्रद्धा कम हो जाती है। ठाकुर अपने शिष्यों को निष्कलंक रखने के लिये उन पर सर्वदा सतर्क दृष्टि रखा करते थे। एक व्यक्ति उनके शिष्यों की पंक्ति में बैठकर भोजन करना चाहता था। वे बोले – नही होगा। ऊपरी तौर से लगेगा कि ठाकुर के समान उदार व्यक्ति ने ऐसा रूढ़ व्यवहार किया! परन्तु यहाँ पर ठाकुर के लिए कठोर होना आवश्यक था। भागवत में है – **पदापि युवतीं भिक्षुर्नस्पृशेत् दारविमपि** – काठ की नारीमूर्ति हो, तो भी संन्यासी पाँव से भी उसका स्पर्श नहीं करेगा।

पग पग पर आशंका है, इसीलिये इतना सावधान किया गया है। परन्तु भय होने के कारण क्या संसार को छोड़ जंगल में जाकर रहना होगा? ऐसी बात नहीं है और यह सम्भव भी नहीं है। तो फिर क्या करना होगा? ठाकुर का कहना है कि पुरुष महिलाओं को मातृ-भाव से और महिलाएँ पुरुषों को सन्तान-भाव से देखें। इस आदर्श को पकड़े रहना होगा और यथासम्भव तदनुसार आचरण करना होगा। यह लोकोत्तर पुरुष की वाणी है। वे मथुरबाबू और उनकी पत्नी के साथ सो चुके हैं। और अपनी पत्नी को भी उन्होंने काफी काल तक अपने साथ एक शैय्या पर स्थान दिया है। जब उस भाव में थे, तब एक प्रकार था और जब उपदेष्टा के रूप में खड़े हुए तब उनमे दूसरा भाव है और आचरण भी भिन्न है। ठाकुर के जीवन में विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति हुई है, इसीलिये उनके आचरण भी विभिन्न प्रकार के हैं। सर्वदा उनके आचरण का अनुकरण करना हमारी क्षमता से परे है और ऐसा करना उचित भी नहीं है। भागवत में है – **ईश्वराणां वचः कार्यं तेषामचरणं क्वचित्** – "लोकोत्तर महापुरुषों के उपदेश का अनुसरण करना चाहिये और कही कहीं उनके आचरण का भी अनुकरण किया जा सकता है।" सभी परिस्थितियों में उनके आचरण का अनुकरण करना हमारे लिये कल्याणकारी नहीं होगा, क्योंकि वह हमारी सामर्थ्य के परे है। तथापि यह स्मरण रखना होगा कि उनके उपदेश हमारे लिये सदा-सर्वदा अनुसरणीय है। ठाकुर कई बार दिगम्बर होकर एक शिशु के समान गोपाल की माँ की गोद में जा बैठते थे। सामान्य व्यक्ति के लिये क्या यह सम्भव है!

शुकदेव की कथा में है – वे नग्न अवस्था में जा रहे थे। युवक थे। अप्सराएँ सरोवर में स्नान कर रही थीं। शुकदेव उनके सामने से होकर चले गये। उन लोगों ने उधर आँख उठाकर भी नहीं देखा और न संकुचित ही हुईं। उनके पीछे पीछे पिता व्यासदेव भी चले आ रहे थे। उन्हें देखकर अप्सराएँ लज्जित हो गईं और उन्होंने घबराकर शीघ्रतापूर्वक अपने को वस्त्रों से ढँक लिया। व्यासदेव विस्मित रह गये – वे वृद्ध थे और उन्हें देखकर अप्सराओं को इतनी लज्जा हुई और युवा शुकदेव को देखकर वे जरा भी लज्जित नहीं हुईं! अप्सराएँ बोलीं, "महाराज, आप वृद्ध होने के बावजूद कामनामुक्त नही हो सके हैं, परन्तु शुकदेव निर्वासना और देहबोध से रहित हैं। उनके मन से पुरुष-नारी का बोध लुप्त हो गया है। उन्हें देखने पर मन में यह उठता ही नहीं कि वे युवक हैं या वृद्ध, स्त्री हैं या पुरुष।"

ठाकुर की भक्त-महिलाएँ कहती थीं कि जब वे उन लोगों के साथ मिलते-जुलते थे, तो कभी उन लोगों को ऐसा बोध नहीं होता था कि वे पुरुष हैं और वे उनके साथ निःसंकोच व्यवहार करती थीं। फिर पुरुषों के समक्ष ये ही ठाकुर पुरुषसिंह हो जाते थे। ऐसा आचरण लोकोत्तर व्यक्तियों के द्वारा ही सम्भव है। इसीलिये सामान्य लोगों के लिये ठाकुर सावधानी के इतने उपदेश देते हैं। वे बारम्बार कहते हैं कि कामिनी और कांचन अर्थात् नारी अथवा धन का आकर्षण ही जगत् के समस्त अनर्थों का मूल है। ये दोनों मूलतः मन की भोगाकांक्षा से उत्पन्न होते हैं। मानव-जीवन के इन दो मूलभूत आकर्षणों से ठाकुर ने सबको सावधान कर दिया है। शालीनता की रक्षा के लिये ढँककर नहीं, बल्कि स्पष्ट खुली भाषा में कहा है, जो बहुधा सभ्य समाज में उचित नहीं माना जाता। ठाकुर के बोलने का यह ढंग ध्यान देने योग्य है। तथापि यहाँ पर ऐसा लगता है मानो ठाकुर नारी-विद्वेषी हों। पर वे ऐसे बिल्कुल भी नहीं हैं। **या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता** – "जो सर्वभूतों में मातृरूप से स्थित है, प्रत्येक नारी में वे उसी मातृरूप को देखते और वैसा ही व्यवहार भी करते थे।

ठाकुर कहते हैं – प्रारम्भिक अवस्था में इस सावधानी की विशेष आवश्यकता है, सिद्ध होने पर भय की कोई बात नहीं। परन्तु यदि कोई आचार्य हो, तो सिद्ध होने पर भी उन्हें भीतर-बाहर का त्याग करना पड़ता है। उनके अपने पतन का भय न रहने पर भी आदर्श को विशुद्ध रखने के लिये उन्हें भी अपने आचरण में सतर्क रहना चाहिए। देहबुद्धि रहने से ही भय है, देहबुद्धि चली जाने पर भय की कोई बात नहीं, पर देहबुद्धि जाती भला कितने लोगों की है? गीता में कहा है –

शक्नोति इहैव यः सोढुं प्राक्शरीर विमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।। ५/२३

– "शरीर छूटने के पहले ही जो व्यक्ति इस संसार में रहते हुए काम-क्रोध आदि का वेग सहन कर सकता है, वही सच्चा योगी है और सुखी है ।" अर्थात् जब तक शरीर है, तब तक मनुष्य का इन उपद्रवों से बचना कठिन है, इसीलिये सावधान रहना पड़ता है । ठाकुर कहते हैं, "छत पर चढ़ते समय हिलना-डुलना नहीं चाहिये । हिलने-डुलने से गिरने की बहुत सम्भावना रहती है । जो लोग दुर्बल हैं, उन्हें दीवार के सहारे से चढ़ना पड़ता है । सिद्ध अवस्था की बात अलग है । भगवान का दर्शन होने के बाद ज्यादा भय नही रहता । तब बहुत कुछ निर्भयता हो जाती है । छत पर एक बार चढ़ना हुआ तो बस, काम सिद्ध हुआ । छत पर चढ़कर फिर वहाँ चाहे कोई जितना नाचे ।" जब मन के उत्थान-पतन की अवस्था दूर हो जाती है और मन स्थायी रूप से परम तत्त्व में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब फिर भय नहीं रह जाता । इसी दृष्टि से उपनिषद् में एक जगह लिखा है – ब्रह्मज्ञ का व्यवहार कैसा होता है? उनका व्यवहार चाहे जैसा भी क्यो न हो, वे ब्रह्मज्ञ ही रहेंगे अर्थात् उस समय उनके आचरण के द्वारा उनके ब्रह्मज्ञ होने या न होने का विचार नहीं किया जा सकता । जिन्होंने सत्य को जान लिया है, उनकी दृष्टि चिरकाल के लिये मोहरहित हो गयी है, उनके लिये पतन का कोई भय नहीं है । ऐसा न हो, तो जीवन्मुक्त अवस्था जैसा कुछ भी नहीं रहता । साधना की सहायता से सिद्धि प्राप्त होने के बाद जब देहबुद्धि या अहंकार का नाश हो जायेगा, तभी निश्चिन्तता आएगी । इस अवस्था के लिये दृष्टान्त दिया जाता है कि एक रस्सी जलकर राख हो गयी है । उस समय यद्यपि वह रस्सी के समान ही दिखती है, परन्तु उस रस्सी से बाँधने का काम नहीं होता । ठीक उसी प्रकार देहबुद्धि जलकर राख हो जाने पर भी व्यवहार में ऐसा लगेगा कि देहबुद्धि है, परन्तु वह देहबुद्धि अब उसके बन्धन का कारण नहीं बन सकेगी । तब फिर माया की उत्पत्ति नहीं होगी ।

तत्त्व को जान लेने पर सारी अविद्या और उससे उत्पन्न होनेवाले बन्धन – अज्ञान, मोह आदि सब चिरकाल के लिये दूर हो जाते हैं । परन्तु साधन-पथ पर चलते समय वह चाहे जितना भी ऊपर उठे, असावधान होने से उसका काम नहीं चलेगा, बल्कि उसे तो और भी अधिक सतर्क रहना पड़ता है, क्योंकि मन जब सूक्ष्म राज्य मे विचरण करता है, तब वहाँ संघर्ष भी सूक्ष्म तथा कठिनतर हो जाता है । उस अवस्था के शुद्ध मन में अशुद्धि की जरा-सी भी हवा लगने पर असह्य पीड़ा होती है । श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग के लेखक ने बताया है कि साधकगण जब उच्च स्तर में पहुँच जाते हैं, तो लगता है कि उन्हें शायद संघर्ष की आवश्यकता नहीं होगी । परन्तु ऐसी बात नही है । साधनकाल में मनुष्य जितना ही अग्रसर होता रहता है, उसका संग्राम भी उतना ही कठिन-से-कठिनतर हो जाता है । प्रारम्भ में संग्राम स्थूल वस्तु के साथ होता है, परन्तु बाद में सूक्ष्म विषयों के साथ संग्राम शुरू होता है । भोगवासना के साथ यह जो संग्राम है, वह मन को चंचल कर सकता है, जैसा कि बुद्धदेव के जीवन में उनके बोधि-प्राप्ति के पूर्व क्षण तक 'मार' के आक्रमण की कथा में है । 'मार' का अर्थ यह वासना ही है । अर्थात् अन्य सभी जड़-वस्तुओं के साथ युद्ध समाप्त हो चुका है, तथापि 'मार' के साथ प्रचण्ड संग्राम चल रहा है । इसके समान भयंकर कोई दूसरी अवस्था नहीं है । इस युद्ध में भी विजय मिल जाने पर ही साधक मुक्तपुरुष हो जाता है । तब उसके ऊपर वासना का कोई प्रभाव नहीं रह जाता । बाहर की किसी आचरण से इन मुक्तपुरुषों पर विचार नहीं किया जा सकता, तथापि आचार्यों को भी अपने आचरण में बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है, अन्यथा लोगों के मन में बेकार ही विभिन्न प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती है ।

साधना की सीढ़ियाँ

इसके बाद जिन बाह्य लक्षणों को देखकर ध्यान की गम्भीरता का अनुमान किया जाता है, इस विषय में बोलते हुए ठाकुर विभिन्न कोषों के बारे बताते हैं । शंकराचार्य ने इन कोषों की व्याख्या में कहा है कि ये मानो तलवार की म्यान हैं । म्यान जैसे तलवार को ढँके रहती है, वैसे ही ये कोष भी आत्मा को ढँके रहते हैं । लोग कोषों को तो देख पाते हैं, परन्तु आत्मा को नहीं देख पाते । स्थूल शरीर अन्नमय कोष है, उसके बाद है प्राणमय, मनोमय, उसके बाद विज्ञानमय कोष और उसके भी बाद आनन्दमय कोष है । इस आनन्दमय कोष के विषय में दो मत हैं और दोनों ही आचार्य शंकर द्वारा स्वीकृत हैं । एक मत में उन्होंने कहा है कि आनन्दमय कोष कोष नहीं है, क्योंकि आत्मा उसके द्वारा ढँका नहीं जाता । फिर जिस मत में उसे कोष कहा जाता है, वहाँ बताया गया है कि विभिन्न कोषों के बाद यह आनन्दमय कोष है । उसके परे भी जो है, वह आनन्द के अतीत है । ठाकुर ने कहा है कि सुख-दु:ख के परे भी है । तथापि यह स्पष्ट समझा जा सकता है कि वह आनन्द साधारण आनन्द नहीं है । साधारण आनन्द का अवलम्बन कोई विषय होता है, परन्तु आनन्दमय कोष का आनन्द निर्विषय है । उसका अन्य कोई हेतु नहीं है । वहाँ पर आत्मा के स्वरूप के रूप में आनन्द की अभिव्यक्ति होती है । यहाँ इसे कोष नहीं बताया जा रहा है । ऊपरी तौर से दोनों व्याख्याओं में असंगति प्रतीत होने पर भी भिन्न भिन्न दृष्टि से देखने पर दोनों के बीच सामंजस्य दिखाई देता है ।

उसके बाद कहते हैं, "मन का नाश हो जाने पर फिर कोई खबर नहीं रहती । यही चैतन्यदेव की अन्तर्दशा थी ।" बाह्यदशा, अर्धबाह्य और अन्तर्दशा – इन तीन अवस्थाओ की बात कही जाती है । जहाँ पर मन का नाश हो जाता है अर्थात् मन महाकारण में विलीन हो जाता है, वही अन्तर्दशा है ।

सुषुप्ति और समाधि

समाधि में जाने पर ही मन का इस प्रकार नाश होता है और सुषुप्ति में भी वैसा ही होता है । उस अवस्था में मन सोया रहता है । सोये रहना और नाश होना – ये मन की दो भिन्न अवस्थाएँ हैं । जागने पर वह फिर सक्रिय हो जाता है, परन्तु एक बार नाश हो जाने पर वह फिर सक्रिय नहीं होता । उसके बाद भी मन के सक्रिय दिखाई देने पर शास्त्र कहते हैं कि यह केवल बहिर्दृष्टि से दिखाई देता है, अन्तर्दृष्टि से उसमें क्रिया नही है । पूर्वोक्त जली हुई रस्सी की तरह, उसमें रस्सी का आकार रहने के कारण उसे रस्सी कहते हैं, परन्तु उससे बन्धन का कार्य नहीं होता । उसी प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि मन की क्रिया हो रही है, परन्तु वास्तव में उसमें कोई क्रिया नहीं होती । **'करोति इव'** – मानो वह कर रहा है, परन्तु कुछ करता नहीं, वह उसी निष्क्रिय स्वरूप में स्थित रहता है । जैसा कि गीता की व्याख्या में श्री शंकराचार्य ने भगवान के बारे में कहा है, **"जात इव देहवान् इव लोकानुग्रहं कुर्वन्** – मानो जन्म लेकर देहधारी के समान लोगों पर कृपा करते हुए प्रतीत होते हैं ।" लोगों के ऊपर उनकी यह कृपा वे अपने स्वरूप में स्थित रहकर ही करते हैं ।

"अन्तर्मुख अवस्था कैसी है, जानते हो? दयानन्द ने कहा था, 'अन्दर आओ, दरवाजा बन्द कर लो'।" अर्थात् जाग्रत अवस्था में हम लोग जो आकार आदि देखते हैं, स्वप्न में उसी की सूक्ष्म अनुवृत्ति होती है और सुषुप्ति अवस्था में जब स्वप्न नहीं रहता, तो किसी अनुवृत्ति से युक्त स्मृति भी नहीं रहती । उस अवस्था के साथ अन्तर्दशा की तुलना की गई है । परन्तु स्मरण रखना होगा कि सुषुप्ति में मन का पूरी तौर से नाश नहीं होता, बल्कि उस समय वह सामयिक रूप से निष्क्रिय रहता है । मन जब्र तुरीय अवस्था में पहुँचता है, तब वह जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति – इन तीनों के परे अवस्था में स्थित रहता है । ये तीनों अवस्थाएँ उसके सामने मिथ्या हो जाती हैं । मिथ्या हो जाती हैं – ऐसा इसलिये कह रहा हूँ, क्योंकि ऊपरी तौर से उसके द्वारा व्यवहार होने पर भी, वस्तुत: उसमें व्यवहार नहीं होते ।

जीवन्मुक्ति के स्वरूप का वर्णन करने में शास्त्रकार लोग भी पीछे हट गये हैं । क्योंकि उन लोगों ने देखा कि ज्ञानी लोग भी सामान्य लोगों की तरह व्यवहार करते हैं, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि उनके द्वारा व्यवहार नहीं होता? और यदि व्यवहार हो, तो फिर उन लोगों तथा सामान्य लोगों में भेद ही क्या रहा? तब तो समाधि का जो ज्ञान है, वह ब्रह्मज्ञान भी अनित्य हो जाएगा, निष्फल हो जाएगा । जीवन्मुक्ति होती है – कहने में यही दोष है ।

शास्त्र में 'जीवन्मुक्ति' की तरह तरह से व्याख्या हुई है । कटी हुई जड़वाली लता से उसकी उपमा दी गई है । लता की जड़ काट दी गई है, उसके भीतर अब रस का संचार नहीं होगा । वस्तुत: लता की मृत्यु हो चुकी है, परन्तु जब तक उसके भीतर पूर्वसंचित रस है, तब तक वह एक सजीव लता के समान दिखाई देगी । इस बचे हुए रस के समान ही अविद्या का थोड़ा-सा लेश रहने तक उसके द्वारा व्यवहार होगा । प्रारब्ध के लिये जो संस्कार हैं, वे इस बची हुई अविद्या के रूप में ही रहते हैं । ज्ञान के द्वारा उनका नाश नहीं होता, भोग के द्वारा वे स्वयं ही नष्ट हो जायेंगी । परन्तु शास्त्रों के सिद्धान्त के अनुसार कोई चीज स्वयं ही नष्ट ही नष्ट नहीं हो सकती । न्यायशास्त्र के मतानुसार नाश्य और नाशक दो चीजें हैं । कोई वस्तु स्वयं ही अपना नाश्य या नाशक नहीं हो सकती । अत: नाश के लिये किसी अन्य कारण की आवश्यकता होगी । इसलिये ज्ञान के बाद भी जिसका नाश नहीं हुआ, उसका अन्य किस कारण से नाश होगा? अत: उसके नाश की कोई सम्भावना नहीं है । परन्तु व्याख्याकार लोग कहते हैं कि जड़कटी लता के समान उसमें बचा हुआ रस सूख जाने पर उसका स्वयं ही नाश हो जाएगा ।

कहीं कहीं निर्मली फल का भी दृष्टान्त दिया गया है । उसमें फिटकिरी के समान गुण होता है । फिटकिरी को पानी में डालने से वह उसमें घुलकर मैल के साथ ही लुप्त हो जाता है । फिटकिरी बचती नहीं, उसका नाश हो जाता है । विज्ञानवादी कहते हैं, "नाश क्यों होगा? वह तो पानी में घुली हुई है । तथापि उसका आकार हम नहीं देख पाते हैं । जिस प्रकार फिटकिरी का आकार नहीं रहता, उसी प्रकार अविद्या का भी कोई अन्य कार्य नहीं रहता ।" ये ऐसी कोई बात नहीं है, जो मन को खूब पट जाय । ये सब व्याख्याएँ बड़ी युक्तसंगत नहीं हो पातीं, इसी कारण शंकराचार्य ने प्रतिपक्ष के 'जीवन्मुक्ति असिद्ध' – इस मतवाद के साथ तर्क करते हुए अपनी सारी युक्तियों को समाप्त करने के बाद कहा है – **"दृष्टे न अनुपन्नं नाम** – जो देखने में आ रहा है, उसे भला अयौक्तिक कैसे कहा जा सकता है!" क्योंकि युक्ति तो अनुभव का अनुसरण करती है, अनुभव युक्ति का अनुसरण नहीं करता । अत: जीवन्मुक्त अवस्था का जब अनुभव किया जा सकता है, तो फिर किसी अन्य प्रमाण की क्या आवश्यकता है? तो भी जो लोग जीवन्मुक्ति में प्रतिष्ठित हो चुके हैं, केवल वे ही यह बात कह सकते हैं । दूसरों के लिये तो यह अनुमान-मात्र है । अलग अलग व्यक्ति अलग अलग प्रकार का अनुमान करेंगे, परन्तु जो अनुभव की दृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित हैं, वे कहते हैं – देख रहा हूँ कि जगत का लय हो गया है, अब वह भला कहाँ से आएगा? इसी प्रकार शंकराचार्य ने युक्ति पर नहीं, बल्कि अनुभव के ऊपर बल दिया है । अनुभव की भूमि पर खड़े होकर वे कहते हैं – जीवन्मुक्ति अनुभवसिद्ध है ।

❖ (क्रमश:) ❖

मानस-रोगों से मुक्ति (१/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस-रोग' पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन सैंतीसवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

यों तो अभी भी कई मानस-रोगों का विश्लेषण करना बाकी रह गया है, पर रोगों की बातें कहते कहते मुझे ऐसा लगा कि कुछ परिवर्तन होना चाहिये। 'मानस' में भी यह प्रसंग पढ़ने से ऐसा लगता है मानो कागभुशुण्डिजी रोगों का वर्णन करते करते थक गये और अन्त में यही कहते हैं – कहाँ तक बताऊँ, रोग तो असंख्य प्रकार के हैं –

कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका ।। ७/१२१/३७

और ये रोग इतने व्यापक हैं कि संसार में ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं, जो इन रोगों से पूरी तरह से मुक्त हो। यहाँ पर तो कागभुशुण्डिजी ने मानो दावे के साथ एक वाक्य कहा – **हहिं सबके** – ये मन के रोग हैं तो प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में, पर ऐसे व्यक्ति बहुत विरले हैं जो अपने मन के रोगों को देख पाते हों, उसका विश्लेषण कर पाते हों कि हमारे मन में रोग कहाँ पर किस रूप में है। मन के रोगों के साथ सबसे जटिल समस्या यह है कि इसके रोगी को यह प्रतीत नहीं होता कि उसे रोग हुआ है। शरीर में रोग होने पर साधारणतया व्यक्ति को अनुभव होने लगता है कि वह बीमार हो गया है और तब स्वाभाविक रूप से उसके मन में स्वस्थ होने की तीव्र आकांक्षा उत्पन्न होती है, पर मन का रोगी यह अनुभव नही करता कि वह मानसिक रूप से अस्वस्थ है। अत: उसमें स्वस्थ होने की प्रवृत्ति भी नही दिखाई देती। इसके साथ ही एक समस्या मन के रोगी के साथ यह भी जुड़ी हुई है कि वह हर सामनेवाले व्यक्ति को मनोरोग से ग्रस्त देखता है। वह यदि स्वस्थता की चिन्ता करता भी है तो दूसरो की। इसका तात्पर्य यह है कि वह स्वयं को पूर्ण स्वस्थ मानता है। इसीलिये हम जब भी चर्चा करते हैं, तो दूसरा की बुराई पर करते हैं। इसका अर्थ है कि हमें अपनी बुराइयों की प्रतीति ही नहीं हो रही है और हम सोचते है कि सारी बुराइयाँ दूसरे लोगों में ही हैं, हममें बिल्कुल नही है। हम बड़े चिन्तित होते रहते हैं कि व्यक्ति और समाज से ये बुराइयाँ कैसे दूर हों। समाज मे अगणित व्यक्ति है, जो व्यक्ति और समाज की रुग्णता की समस्याओं पर चिन्ता करते हैं और उनका समाधान चाहते हैं, पर इसके साथ एक विचित्र विडम्बना यह जुड़ी हुई है कि स्वयं की ओर उनकी दृष्टि नही जाती, वे यह अनुभव नहीं करते कि पहले उसे स्वयं को स्वस्थ होना है।

इस सन्दर्भ में 'मानस' में एक सांकेतिक प्रसंग आता है। रामचरितमानस के जो उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट पात्र हैं, जिनकी गाथा में हमें उनकी महानता का परिचय मिलता है, उनके चरित्र का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें आप यह अवश्य पायेंगे कि कभी-न-कभी उनमें किसी-न-किसी बुराई अथवा दुर्गुण का उदय हुआ। यह कोई सन्तुष्ट हो जाने की बात नहीं है कि जब इतने महान् व्यक्तियों में भी दोष हैं, तो फिर हमें अपने दोषों के बारे में चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं। अभिप्राय यह है कि ऐसा कोई व्यक्ति नही है, जिसमें किसी-न-किसी मात्रा में मन का कोई रोग विद्यमान न हो।

अत: 'मानस' में आदि से अन्त तक प्रत्येक काण्ड में आप ऐसे पात्रों को देखेंगे और यहाँ तक कि उन पात्रों को भी, जो हमारे परम आदर्श हैं, उनकी भी वाणी अथवा चरित्र में कभी-न-कभी यत्किंचित् ऐसी कोई बात आ ही जाती है। बालकाण्ड में नारदजी के चरित्र का जो वर्णन किया गया है कि किस तरह उनके अन्त:करण में विकारों का उदय हुआ, तो पढ़कर आश्चर्य होता है। इसी तरह अयोध्या-काण्ड में कैकेयी के अन्त:करण का परिवर्तन देखते हैं। एक ओर तो कैकेयीजी इतनी उदार हैं, उनका चरित्र इतना उत्कृष्ट है और दूसरी ओर उनकी यह दुर्बलता – पढ़कर बड़ा आश्चर्य होता है। पर उससे भी बढ़कर आश्चर्य तब होता है, जब अरण्य-काण्ड में हमारी जगज्जननी जगद्वन्दिता श्रीसीताजी, उनमें तो दोष की कल्पना भी नहीं की जा सकती, पर उन्होंने भी अपने नरनाट्य में श्री लक्ष्मण के लिये जिन वाक्यों का प्रयोग किया, उसे हम लीला के सन्दर्भ मे ही देखकर सन्तोष कर सकते हैं, अन्यथा जगदम्बा श्री सीताजी द्वारा लक्ष्मण जी जैसे महान सर्वत्यागी, विरागी के लिये ऐसी भाषा का प्रयोग ? गोस्वामीजी से बढ़कर जनकनन्दिनी का भक्त और कौन होगा, परन्तु वह भाषा कितनी अनुचित थी, इसका पता तो इसी से चलता है कि श्री सीताजी ने लक्ष्मणजी से कौन-सा वाक्य कहा, यह लिखने का साहस गोस्वामीजी भी जुटा नहीं पाते। गोस्वामीजी की यही पंक्तियाँ आप पढ़ते है कि जिस समय लक्ष्मणजी ने यह कहा था कि माँ, क्या प्रभु पर भी कोई संकट आ सकता है? गोस्वामीजी ने वहाँ पर लिखा –

मरम बचन सीता जब बोला। ३/२८/५

एक अन्य प्रसंग भी है, जहाँ गोस्वामीजी को अपने आराध्य की वाणी से निकले शब्द को सुनकर मौन धारण कर लेना पड़ा, उन शब्दों को उन्होंने नहीं लिखा – लंकाकाण्ड में रावण की मृत्यु के बाद जब जनकनन्दिनी श्रीसीताजी आती हैं, तब अग्निपरीक्षा के सन्दर्भ में जब श्रीराम उनके प्रति कुछ कठोर शब्द कहते हैं। इन प्रसंगों में गोस्वामीजी ने लिखा कि श्रीसीताजी ने लक्ष्मणजी के प्रति कुछ संदेहास्पद शब्द कहे और भगवान ने श्री सीताजी के लिये कुछ कठोर शब्द कहे। गोस्वामीजी अपनी इस गोपन वृत्ति की सफाई देते हुए इतना ही कहते हैं कि उन्हे यह उपयुक्त नहीं लगता कि उन शब्दों को विस्तार से प्रस्तुत किया जाय, क्योंकि लोग इसे सही अर्थों में नही ले पायेंगे और जनमानस पर इसका उल्टा प्रभाव पड़ जायेगा। अभिप्राय यह है कि गोस्वामीजी की इस सजगता में एक महत्वपूर्ण संकेत है और इसके द्वारा वे एक महत्वपूर्ण सूत्र देते है। यह एक अच्छी तरह से समझ लेने योग्य बात है और इसे समझ लेने के बाद ही हम रामायण का अधिकतम लाभ उठा सकेगे। सूत्र क्या है?

इस सन्दर्भ में मुझे स्मरण आता है कि एक बार मानस-सम्मेलन का उद्घाटन करने एक मंत्री महोदय आये हुए थे। उस समय उन्होंने अपने भाषण में कहा कि 'वाल्मीकि रामायण' और 'रामचरितमानस' दोनों महान ग्रन्थ हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में 'मानस' की अपेक्षा 'वाल्मीकि रामायण' ही समाज के लिये अधिक उपादेय है। इसका कारण उन्होंने यह बताया कि वाल्मीकि ने श्रीराम का वर्णन मनुष्य के रूप में किया है और गोस्वामीजी ने ईश्वर के रूप मे। उनका सीधा-सा तर्क यह था कि यदि हम श्रीराम को ईश्वर मान लेंगे, तो फिर हमारे जीवन में उनसे प्रेरणा लेने की सम्भावना नहीं रह जायेगी। हम समझ लेंगे कि यह तो ईश्वर के सम्बन्ध में लिखी गई बातें हैं, हम भला साधारण लोग अपने जीवन में इसका अनुगमन कैसे कर सकते हैं? ऐसी स्थिति में अगर गोस्वामीजी ने भी श्रीराम का वर्णन ईश्वर के रूप में न करके वाल्मीकि के समान मनुष्य के रूप में किया होता, तो यह बड़ा उपयोगी होता।

आज भी अनेक लोग यही कहते हैं। साधारण दृष्टि से देखें तो यह तर्क बड़ा बुद्धिवादी प्रतीत होता है। लेकिन मैंने जो उत्तर दिया था, वह 'मानस' को समझने का मूलाधार है। मैंने कहा था – भाई, हमारे इतिहास-पुराणों में महापुरुषों के चरित्रों की कोई कमी तो है नहीं। श्रीराम ही तो कोई एकमात्र महापुरुष हैं नहीं। यदि सारे पुराणों को उठाकर देखें, तो इक्ष्वाकु, मनु, दधीचि, रन्तिदेव आदि कितने ही महापुरुष हैं और पुराणों के साथ साथ हमारे इतिहास में भी और इस युग मे भी बड़े बड़े सन्त हुए हैं। अभी सबसे निकटतम महात्मा गांधी हुए हैं। मैंने उनसे प्रश्न किया 'भाई, इन सब महापुरुषों का वर्णन तो ईश्वर के रूप में नहीं, बल्कि मनुष्य के रूप में किया गया है। पर इतने मनुष्यों के चरित्र को पढ़ने के बाद भी आप कुछ सीख नहीं सके। महात्मा गांधी से भी आप नही सीख सके, तो एक श्रीराम ही मनुष्य होते, तो क्या आप सब सीख लेते?' यह बात कोई बड़ी बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं लगती।

वस्तुत: यह धारणा गोस्वामीजी की दृष्टि को न समझ पाने के कारण है। उनकी दृष्टि क्या है, इसे मैं थोड़ा स्पष्ट कर देता हूँ। गोस्वामीजी जितना बल श्रीराम की ईश्वरता पर देते हैं, उतना ही उनकी नरलीला पर भी देते हैं। वे यह आग्रह तो करते हैं कि श्रीराम ईश्वर हैं, पर उतनी ही तीव्रता के साथ वे यह आग्रह भी करते हैं कि ईश्वर होते हुए भी वे नर-शरीर धारण करके नरलीला कर रहे हैं। ध्यान रहे, वे पूरे 'मानस' में यह आग्रह नहीं करते कि श्रीराम का चरित्र और उनके जीवन की घटनाएँ ईश्वरत्व से ही जुड़ी हुई हैं। वे कहते हैं कि यह श्रीराम की नरलीला है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि आप उनके मनुष्य रूप से सीखना चाहें, तो अवश्य सीखें। गोस्वामीजी स्वयं स्वीकार करते हैं कि श्रीराम मनुष्य के समान आचरण कर रहे हैं। उनसे आप प्रेरणा लेने में स्वतंत्र हैं। पर वे श्रीराम के ईश्वरत्व पर जो इतना जोर देते हैं, उसका एक महत्वपूर्ण और सूक्ष्म कारण है, वह मैं आपको बता देता हूँ।

वस्तुत: समाज में समस्या प्रेरणा लेने की नहीं है। इतिहास के कितने विशाल ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनमें इतने महानतम चरित्रों का उल्लेख किया गया है तथा इतने वक्ताओं के द्वारा उसका प्रतिपादन किया गया और किया जा रहा है। तो भी क्या प्रेरणा में कोई कमी पड़ रही है? परन्तु मनुष्य के साथ एक समस्या और जुड़ी हुई है और उसी का समाधान देने हेतु गोस्वामीजी श्रीराम के ईश्वरत्व पर बहुत बल देते हैं।

वह समस्या क्या है? यह है कि पहले तो हमें यह जानना होगा कि क्या उचित है। पर उससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह जानना है कि उस 'उचित' को हम अपने जीवन में कैसे उतारें? इस तरह जितनी समस्या जानने की है, उससे भी अधिक उसे अपने जीवन में उतारने की है। गोस्वामीजी ने एक बड़ी सूक्ष्म भाषा का प्रयोग करते हुए कहा कि श्रीराम नरलीला कर रहे हैं – मनुष्य बनकर मनुष्य के समान आचरण कर रहे हैं। इस नरलीला के द्वारा वे हमें प्रेरणा दे रहे हैं। पर यदि श्रीराम केवल मनुष्य होते, तो उनकी ईश्वरीय शक्ति हमें नहीं मिल पाती। उन्हें केवल मनुष्य के रूप में देखकर हम उनके चरित्र से प्रेरणा तो प्राप्त कर सकते हैं, पर ईश्वर के रूप में उनकी आराधना करके हमें उनसे प्रेरणा के साथ ही शक्ति भी मिलती है। हमें अपने चरित्र को बदलने के लिये जो शक्ति चाहिये, वह मनुष्य से प्राप्त होना सम्भव नहीं है। मनुष्य हमे प्रेरणा दे सकता है, पर वह शक्ति कैसे देगा?

अतः इस दोहरे लाभ के लिये गोस्वामीजी आग्रह करते हैं कि श्रीराम ईश्वर होते हुए भी मनुष्य बनकर जीव की समस्याओं को स्वीकार करके नरलीला कर रहे हैं। वे कहते हैं कि जब लक्ष्मणजी कन्द-मूल-फल लेने हेतु वन में गये हुए थे, उस समय एकान्त में भगवान राम ने जनकनन्दिनी सीताजी से मिलकर एक योजना बनाई। उस योजना के विषय में भगवान राघवेन्द्र श्री सीताजी से कहते हैं – जनकनन्दिनी सीते, मेरी एक योजना है, मैं नरलीला करूँगा –

सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला।
मैं कछु करबि ललित नरलीला।। ३/२४/१

नरलीला करूँगा – यह सुनकर बड़ा विचित्र-सा लगता है। क्या इसके पहले वे नरलीला नहीं कर रहे थे? पहले भी कर रहे थे। जन्म लिया, बालकों के साथ खेले, शिक्षा प्राप्त की – श्रीराघवेन्द्र का सारा आचरण नरलीला ही है। तो फिर आज यह क्यों कह रहे हैं कि मैं नरलीला करूँगा? वे मानो यह कहना चाहते हैं कि लीला में कुछ अभिनय ऐसे होते हैं, जिसमें व्यक्ति को प्रशंसा मिलती है, लेकिन कुछ ऐसी भूमिका भी होती है, जिसमें निन्दा मिलती है। जैसे रामलीला में राम की भूमिका करनेवाला तो वन्दनीय बन जाता है, परन्तु जो बेचारा रावण बनता है, वह सचमुच ही रावण नहीं बन जाता, पर लोगों की दृष्टि उसके प्रति कोई आदर की नहीं होती। मैंने तो यहाँ तक देखा कि किसी किसी व्यक्ति को बार बार रावण की भूमिका में देखने के अभ्यस्त कुछ लोग सड़क पर भी उसे देखकर कहते हैं – देखो, वह रावण जा रहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ घटनाएँ नाटकों में ऐसी होती हैं, जिनमें प्रशंसा के अवसर नहीं होते। भगवान श्रीराम ने श्री सीताजी से यही कहा कि अभी तक तुम्हें और मुझे जो अभिनय करना पड़ा, उसमें आदर्श का पक्ष ही प्रमुख है, पर अब जो भार मैं तुम्हें दे रहा हूँ, जो अभिनय तुम्हें करना है, उसके द्वारा तुम्हें प्रशंसा नहीं, अपितु आलोचना का पात्र बनना पड़ेगा।

सीताजी जब अयोध्या का राज्य और जनकपुर का वैभव ठुकराकर श्रीराम के साथ वन में चली आती हैं, तब तो प्रत्येक व्यक्ति गद्गद हो जाता है और कहता है – अहा, कितना महान् त्याग है, कैसी तपस्या है! उन्हें श्रीराम से इतना प्रेम है कि उनके लिये उन्होंने इतना बड़ा त्याग किया। लेकिन यहाँ जो घटनाएँ भगवान श्रीराम रखना चाहते हैं, उनमें सीताजी के त्याग-तपस्या का पक्ष नहीं आता, बल्कि वहाँ का दृश्य श्री सीताजी के चरित्र से बिल्कुल विपरीत ही दिखाई देता है। सीताजी ने प्रभु से पूछा कि उन्हें क्या करना होगा? भगवान बोले – कुछ देर बाद तुम्हारे सामने एक स्वर्ण-मृग आयेगा। तुम उसे देखकर मुझसे कहना कि यह मृग बड़ा सुन्दर है, इसे मेरे लिये ला दीजिए।

सीताजी के संकोच की सीमा न रही; वे बोलीं – महाराज, आपकी सुन्दरता को देखने के बाद भला मैं कैसे कह सकती हूँ कि यह मृग सुन्दर है? आपको छोड़कर भला और कहीं कोई सुन्दर हो सकता है? दूसरी बात तो और भी कठिन है। आज तक तो मैंने आपसे कुछ नहीं माँगा और आज कहूँ कि आप इस सुन्दर मृग को मेरे लिये ला दीजिए? भगवान ने कहा – बस, यही तो मैंने तुमसे वचन लिया है। अब आगे जो लीला करनी है, वह प्रशंसनीय नहीं है। श्रीसीताजी ने पूछा – तो आगे क्या होगा? बोले – "तुम मुझे मृग लाने के लिये कहना और मैं मृग के पीछे भागूँगा। मारीच मरते समय लक्ष्मण का नाम लेकर पुकारेगा, तब तुम लक्ष्मण को मेरे पास भेजना। जब वह जाने के लिये तैयार न हो, तो उसको ऐसा कठोर शब्द कहना कि वह तिलमिला कर मेरे पास चला आए।"

अब यह कार्य तो श्रीसीताजी यथार्थ जीवन में कर ही नहीं सकतीं, पर उन्होंने प्रभु के आग्रह पर नरनाट्य में इस कठिन भूमिका को भी स्वीकार कर लिया। उससे भी अधिक कठिनाई तो गोस्वामीजी के समक्ष आयी। परन्तु वे सावधान हो गये और तत्काल पाठकों को भी सावधान करते हुए बोले –

मरम बचन सीता जब बोला।
हरि प्रेरित लछिमन मन डोला।। ३/२८/५

'हरि प्रेरित' – यह 'देहली-दीप-न्याय' से दोनों ओर लगेगा। जब श्रीसीताजी ने कठोर शब्द बोला और लक्ष्मणजी विचलित हो गये – दोनों ही बातें प्रभु के द्वारा प्रेरित थीं। यह बताने का तात्पर्य यह है कि कहीं हम यह न समझ लें कि सीताजी या लक्ष्मणजी के चरित्र का यह वास्तविक अंग है। गोस्वामीजी सावधान कर देते हैं कि उनके द्वारा ऐसा आचरण सम्भव ही नहीं है। वे कहते हैं कि यह ईश्वरीय प्रेरणा का परिणाम तथा लीला का अंग है। वैसे ही रावण के मरणोपरान्त भगवान सीताजी के लिये कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं। पढ़कर लगता है कि इससे बड़ा आश्चर्य भला क्या होगा? पर गोस्वामीजी वहाँ भी हमें सावधान करते हैं।

अरण्य-काण्ड में भगवान ने सीताजी को अग्नि में निवास करने का आदेश दिया था। जब उद्देश्य पूर्ण हो गया, तो उन्हें पुनः प्रगट करने के लिये श्रीराम ने एक बड़ी अद्भुत पद्धति का प्रयोग किया। उन्होंने अग्निपरीक्षा का आदेश दिया। वस्तुतः इस अग्निपरीक्षा का मुख्य उद्देश्य उनकी परीक्षा नहीं, बल्कि अग्नि में छिपी हुई सीताजी को पुनः प्रगट करना था –

सीता प्रथम अनल महुँ राखी।
प्रगट कीन्हि चह अंतर साखी।। ६/१०८/१४

उस समय भगवान ने सीताजी के लिये कुछ कठोर शब्दों का प्रयोग किया। गोस्वामीजी ने वहाँ पर यह तो नहीं लिखा कि वे कठोर शब्द क्या थे, केवल इतना ही लिखा कि –

तेहि कारन करुनानिधि कहे कछुक दुर्बाद।। ६/१०८

यहाँ पर मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि भगवान राम ने सीताजी के लिये किन कठोर शब्दों का प्रयोग किया। मुख्य प्रश्न तो यह है कि हम इससे क्या प्रेरणा लेते हैं? 'मानस' में आदि से अन्त तक भगवान श्रीराम और जगज्जननी सीताजी की नरलीला में तथा अन्य पात्रो के जीवन में भी यह दिखाई देता है कि अभिनय में उनकी जो भूमिका है, वह उनके चरित्र तथा स्वभाव से मेल नही खाते। इसमें मुख्य बात उपयोगिता और अनुपयोगिता की है। गोस्वामीजी मुख्य रूप से यह बताना चाहते है कि मनुष्य के जीवन में रोग या बुराइयाँ किस प्रकार उत्पन्न होती हैं।

इसकी दो प्रक्रियाएँ है। एक आधुनिक दृष्टान्त यह है कि एक व्यक्ति तो वह है, जो रोगी है और उसे दवा दी जा रही है। परन्तु आप लोगों ने चिकित्सा विज्ञान के ग्रन्थों में ऐसे चिकित्सा वैज्ञानिकों का नाम पढ़ा होगा, जिन्होंने रोग के जीवाणुओं को स्वयं अपने शरीर में पैठाकर प्रयोग किये और देखा कि किस प्रकार के जीवाणु से कौन-सा रोग होता है और किस औषधि की कितनी मात्रा के प्रयोग से वह दूर होता है।

जो चिकित्सक अपने शरीर में रोग का कष्ट झेलकर भी चिकित्सा का मार्ग प्रशस्त करते हैं, वे हमारे परम वन्दनीय हैं। इसी तरह से इन श्रेष्ठतम चरित्रों की तुलना हम उन्हीं चिकित्सकों और वैज्ञानिको से कर सकते हैं। इन पात्रों के जीवन में भी जिन रोगों का वर्णन किया गया है, उसका उद्देश्य केवल यह बताना है कि किन किन परिस्थितियों में मानस-रोगों के उत्पन्न होने की सम्भावना है। इसके साथ साथ इन प्रसंगों की विशेषता यह है कि वहाँ केवल रोगों का ही नहीं, चिकित्सा का भी वर्णन है। यदि वहाँ केवल इतना ही लिखा जाता कि नारदजी के जीवन में विकृति कैसे आई, तो व्यक्ति सोच लेता कि बड़े-से-बड़े व्यक्ति भी अन्त में रोगग्रस्त होकर नीचे गिर पड़ते हैं और नष्ट हो जाते हैं। पर वहाँ इसका दूसरा पक्ष भी मिलेगा कि पहले नारदजी के जीवन में रोग कैसे उत्पन्न हुआ, उसकी चिकित्सा किस तरह हुई, दवा कौन-सी दी गई और अन्त में वे स्वस्थ किस तरह से हुए।

इसमें दोनों पक्ष हैं, एक ओर तो नारद के चरित्र में हमारे अभिमान को बहुत बड़ी चुनौती है। जो लोग बड़ी सरलता से अपने आप को सिद्ध मान लेते हैं या मनोरोगों से मुक्त मान लेते हैं, उन्हें इन पात्रों के चरित्र को पढ़ने के बाद क्या यह नहीं लगेगा कि इस प्रकार से दावा करना एक प्रकार से धृष्टता है। वस्तुत: बड़े-से-बड़े पात्र के जीवन में ऐसी समस्याएँ आती हैं और इन्हीं महान पात्रों के जीवन से उसका समाधान भी मिलता है। नारदजी के जीवन में विकृति है और उसका समाधान भी। कैकेयीजी, दशरथजी तथा अन्य पात्रों के जीवन में भी यही दिखाई देता है। कभी कभी कहा जाता है कि हमारे देश में यथार्थवादी ग्रन्थ लिखने की परम्परा नहीं है, केवल आदर्श की बातें बहुत की जाती हैं, परन्तु ऐसी बात नहीं है। जब इतने बड़े बड़े महापुरुषों की कमी का पक्ष लिखा गया, तो ऐसा कहना उचित नहीं है कि उसमें यथार्थ नहीं है। अगर यथार्थ का अर्थ केवल दोषों का वर्णन करना, केवल रोगों का वर्णन करना ही हो, तो ऐसे यथार्थवादी वर्णन से तो कोई लाभ नहीं है। यदि हम किसी का रोग बताकर उसे दवा दे सकें, उसे स्वस्थ कर सकें, तब तो हमारा यह रोगों का ज्ञान सार्थक है, पर यदि रोग बता दें पर दवा न दे सकें, तो ऐसी स्थिति में हमारा यह रोग का ज्ञान तो बड़ा आतंक की सृष्टि करनेवाला है। इसलिये यह जो नारद के चरित्र में तथा अन्य पात्रों के चरित्र में विकृति का अन्तिम परिणाम यदि विकृति ही हो, तो उसका वर्णन करने में क्या सार्थकता होती! इसलिये बड़ी मीठी बात आती है। भगवान शिव पार्वतीजी को कथा सुना रहे हैं। कथा सुनाते हुए उन्होंने कहा कि नारद के मन में अभिमान हो गया। पार्वतीजी बड़े आश्चर्य से उनकी ओर देखने लगीं। भरद्वाज याज्ञवल्क्य का मुँह देखने लगे। तब भगवान शंकर पार्वतीजी को सावधान कर देते हैं। याज्ञवल्क्य भी भरद्वाज को सावधान कर देते हैं। पार्वतीजी ने पूछा – महाराज, यह क्या हुआ? शंकरजी ने कहा कि तुम इसे सुनकर इतना आतंकित क्यों हो रही हो? पर इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण था।

नारदजी पार्वतीजी के गुरु हैं और मानस-रोगों की व्याख्या में बताया गया है कि सद्गुरु ही वैद्य हैं। इसका अर्थ हुआ कि साधारण व्यक्ति को रोगी सुनकर उतना आश्चर्य नहीं होता, पर यदि किसी बड़े डॉक्टर या किसी बड़े वैद्य के विषय में अगर सुनें कि वे रोगग्रस्त हैं, तो व्यक्ति के मुँह से यह बात अवश्य निकल जाती है कि अच्छा? कभी कभी तो लोग डॉक्टरों से पूछ देते हैं कि क्या आपको भी रोग होता है? वैसे ही नारदजी पार्वतीजी के गुरु हैं, अत: वे उन्हें वैद्य मानती हैं। पर जब शंकरजी ने नारदजी के रोग का वर्णन किया, तो पार्वतीजी आश्चर्य से उनका मुँह ताकने लगीं। बोलीं – महाराज, क्या हमारे गुरु भी रोगी हो सकते हैं? क्या उनमें कोई बुराई आ सकती है? शंकरजी खूब हँसे और उसका समाधान ऐसा देते हैं कि जिससे पार्वतीजी को अनावश्यक कष्ट न हो। वे यह नहीं कहते कि तुम्हारे गुरु सचमुच रोगी हो गये हैं या ऐसे ईर्ष्यालु हो गये हैं कि मेरे समझाने पर भी नहीं माने।

जब नारदजी के अन्त:करण में अहंकार हुआ तो शंकरजी के पास गये। शंकरजी ने उन्हें समझाने की चेष्टा की, पर उन्होंने नहीं सुना। सुनने की बात तो दूर रही, जब शंकरजी ने उन्हें सावधान किया और हाथ जोड़कर प्रार्थना की – महाराज, यह कथा आपने मुझे सुनाई तो सुनाई, पर भगवान विष्णु को बिल्कुल न सुनाइएगा –

बार बार बिनवउँ मुनि तोही ।
जिमि यह कथा सुनायहु मोही ।।
तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहूँ ।
चलेहुँ प्रसंग दुराएहु तबहूँ ।। १/१२७/७-८

परन्तु नारदजी ने नहीं सुना । शंकरजी पर इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई? बस, यही तो अन्तर है । हम क्या करते हैं? हमने किसी को किसी काम के लिये रोका और अगर वह नहीं माना, और उसके जीवन में उसका दुष्परिणाम आया, तो हम लोग यह कहकर आनन्द लेते हैं कि हमने तो पहले ही कहा था, पर उन्होंने नहीं माना, इसीलिये ऐसा हुआ । कभी कभी तो जिन्होंने नहीं रोका है, वे भी यह दावा कर देते हैं कि मैंने तो पहले ही रोका था । घटना होने के बाद कुछ लोग कह देते हैं, हमने तो पहले ही कहा था । कहा-वहा कुछ नहीं था । 'मानस' में ऐसा ही एक व्यंग्य आता है । हनुमानजी जब मेघनाद के द्वारा बाँधकर लाये गये, तो उन्हें नगर में घुमाया गया । राक्षस लोग ताली बजाकर हँसते हुए उनके पीछे चल रहे थे, चोर कहकर गाली दे रहे थे, लात भी मार रहे थे –

मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी ।। ५/२५/६

लेकिन आगे क्या हुआ? आगे चलकर हनुमानजी ने जब लंका में आग लगा दी, तो ये जितने लात मारनेवाले और गाली देनेवाले थे, वे कहने लगे कि –

हम जो कहा यह कपि नहिं होई । ५/२६/४

हमने तो पहले ही कहा था कि यह बन्दर नहीं है । कहा किसी ने नहीं था, पर अब कहने लगे । यह मानवीय स्वभाव है । पर शंकरजी ने तो नारदजी को सचमुच रोका था । यदि वे मान गये होते, तो उन्हें इतना कष्ट न भोगना पड़ता । शंकरजी की महानता क्या है? उन्होंने पार्वतीजी से यह नहीं कहा कि तुम्हारे गुरुजी की यह दुर्दशा इसलिये हुई कि उन्होंने मेरी बात नहीं मानी, बल्कि पार्वतीजी का प्रश्न सुनकर खूब हँसे । – महाराज, हँस क्यों रहे हैं? बोले – क्या ये दोष मुझमें नहीं आ सकते? कोई भी आदमी यह दावा नहीं कर सकता कि मुझमें बुराई कभी नहीं आ सकती । उन्होंने हँसते हुए कहा –

बोले बिहसि महेस तब ग्यानी मूढ़ न कोइ ।
जेहि जस रघुपति करहिं
जब सो तस तेहि छन होइ।। १/१२४ (क)

– अरे भाई, भगवान का कोई कौतुक रहा होगा, उन्होंने ऐसा कर दिया । नहीं तो क्या नारदजी के जीवन में कोई बुराई आ सकती थी । नहीं पार्वती, तुम्हें अपने गुरु के प्रति इतनी कोई चिन्ता अथवा अश्रद्धा करने की आवश्यकता नहीं है ।

यह है भगवान शंकर का समाधान । उधर याज्ञवल्क्य-भरद्वाज का संवाद चल रहा है । भरद्वाज को भी आश्चर्य हो रहा है कि इतने बड़े महापुरुष के जीवन में इतना बड़ा दोष कैसे आ गया? याज्ञवल्क्यजी ने कथा को थोड़ी बदल-सी दी –

भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान ।। १/२२७

भगवान शिव ने भी हरि-इच्छा को महत्व दिया, पर उन्होंने एक बात और जोड़ दी । हरि-इच्छा बात सुनकर बात अटपटी-सी लगती है । हरि-इच्छा का अर्थ क्या नारदजी को अहंकारी बना देना है? तब तो यह बड़ा अन्याय है । याज्ञवल्क्य ने एक बात और जोड़ दी । क्या? बोले – **कौतुक सुनहु** ।

हरि-इच्छा दो प्रकार की होती है । जब हम अपने मित्र को विदूषक या खलनायक का अभिनय देते हैं, तो कोई शत्रुता के भाव से नहीं देते । वह तो नाटक का आनन्द बढ़ाने के लिये देते हैं । इसलिये यह जो हरि-इच्छा है, वह वस्तुत: भगवान के मन नाट्यविस्तार की जो इच्छा हुई है, उसका परिचायक है । भगवान को नाटक का विस्तार करना था, उस नाटक के माध्यम से विश्व रंगमंच पर विश्व की समस्याओं का समाधान देना था । उस नाटक के लिये कुछ पात्रों की आवश्यकता थी, वे चुन लिये गये और नाटक खेला गया । रावण-कुम्भकरण बनाना था, तो अपने पार्षदों को बना लिया, जो उनके अत्यन्त प्रिय हैं । उन्हें स्वयं मनुष्य बनने के लिये किसी के शाप की आवश्यकता थी, तो नारदजी को ऐसी स्थिति में डाल दिया कि उन्होंने शाप दे दिया । इसलिये 'मानस' के उस प्रसंग में इन सबके साथ एक शब्द जोड़कर मानो आश्वस्त करने की चेष्टा की गई कि – **भरद्वाज कौतुक सुनहु** – हरि-इच्छा के साथ कौतुक शब्द को जोड़कर उसका निर्वाह किया गया ।

नारद के अहंकार को जब भगवान ने देखा, तो कह देते कि नारद अहंकार नहीं करना चाहिये, अहंकार बहुत बड़ा दोष है । परन्तु भगवान ने सोचा कि नहीं –

मुनि कर हित मम कौतुक होई । १/१२९/६

यह तो नाटक खेलने का अवसर आ गया है । इसे छोड़ना नहीं है । नारदजी को निमित्त बनाकर कुछ बातें संसार के सामने रख दें । भगवान ने लीला-विस्तार किया । नारदजी विश्वमोहिनी के नगर में गए । इतने बड़े महात्मा को विश्वमोहिनी के नगर में जाने की क्या जरूरत थी? गोस्वामीजी ने कहा कि भगवान कौतुकी थे, तो नारदजी भी कोई कम कौतुकी नहीं थे!

मुनि कौतुकी नगर तेहिं गयऊ । १/१३०/७

मुनि भी बड़े कौतुकी थे । फिर पूछा गया – महाराज, भगवान शंकर के गणों को क्या पड़ी थी, वे क्यों नारदजी की हँसी उड़ा रहे थे? तो उन्होंने कहा –

बिप्रबेष देखत फिरहिं परम कौतुकी तेउ ।। १/१३३

ये भी बड़े कौतुकी थे । भगवान और नारद तो कौतुकी थे; पर ये तो परम कौतुकी थे । – आपने इन्हें परम कौतुकी क्यों बना दिया? बोले – नाटक में अगर कोई थोड़ी देर के लिये राम बने, तो उसे तो कौतुकी मानेंगे, परन्तु जो रावण की भूमिका करने को तैयार हो, वह तो परम कौतुकी ही होगा ।

❖ (क्रमश:) ❖

दुराग्रह का दोष

स्वामी आत्मानन्द

दुराग्रह एक मानसिक रोग है। इसे दूसरे शब्दों में 'हठधर्मिता' कहा जा सकता है। इसका कारण होता है – अपने विश्वास को तर्क की कसौटी पर न कसना। दूसरे शब्दों में, दुराग्रह के पीछे मनुष्य का अन्धविश्वास होता है। मनुष्य में केवल विश्वास ही न हो, अपितु वह विश्वास युक्तिसंगत भी हो। यदि मनुष्य को सभी कुछ मानने और करने पर बाध्य किया जाय, तो उसे पागल हो जाना पड़ेगा। स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक भाषण में एक महिला का उदाहरण दिया है, जिसने उनके पास एक पुस्तक भेजी थी। उसमें लिखा था कि उसमें लिखी बातों पर उन्हें विश्वास करना चाहिए। पुस्तक में बतलाया गया था कि आत्मा नामक कोई चीज नहीं है, परन्तु स्वर्ग में देवी-देवता हैं और हममें से प्रत्येक के सिर में से ज्योति की एक किरण निकलकर स्वर्ग तक पहुँचती है। स्वामीजी कहते हैं कि उस महिला की धारणा थी कि उसे दिव्य प्रेरणा मिली है और वह चाहती थी कि मैं भी उस पर विश्वास करूँ; और चूँकि मैंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया, उसने कहा - "तुम निश्चय ही बड़े खराब आदमी हो, तुम्हारे लिए कोई आशा नहीं!" यही दुराग्रह है।

दुराग्रह के पीछे मनुष्य का सहज औद्धत्य-भाव रहता है। छोटा बच्चा बड़ा दुराग्रही होता है, पर जैसे जैसे वह बड़ा होता है, उसका मानसिक विकास होता जाता है। वह किसी वस्तु या घटना को तब केवल अपने नजरिये से नहीं देखता, अपितु दूसरे के नजरिये का भी सम्मान करना सीखता है। इसलिए उसमें दुराग्रह की मात्रा कम होती जाती है। इसे सुविख्यात जीवशास्त्री जूलियन हक्सले 'मनो-सामाजिक विकास' (psycho-social growth) कहकर पुकारते हैं। वे तीन प्रकार के विकास की बात कहते हैं। पहला है – physial growth यानी भौतिक अर्थात् शारीरिक विकास। दूसरा है – intel-lectual growth अर्थात् बौद्धिक विकास और तीसरा है – psycho-social growth अर्थात् मनो-सामाजिक विकास। भौतिक या शारीरिक विकास की बात हम समझते हैं। एक शिशु जब पैदा होता है, तब उसकी ऊँचाई-लम्बाई शायद डेढ़ फुट हो, वजन शायद ७-८ पौंड हो, पर जब वही आगे चलकर २५ वर्ष का नौजवान बनता है, तब शायद उसी ऊँचाई ६ फुट हो जाय और वजन २०० पौंड। यह भौतिक या शारीरिक विकास है। बौद्धिक विकास की बात भी समझ में आती है। गाँव के विद्यालय से शहर के महाविद्यालय में पढ़ने आया लड़का पहले दब्बूपने के कारण सहमा सहमा रहता है, बोलने में भी झेंपता है; पर जब धीरे धीरे शहर के वातावरण का अभ्यस्त हो जाता है, शहरी परिवेश उसमें आत्मविश्वास को जगाने लगता है, तो वही फिर छात्रसघ के चुनावों में भी भाग लेता है, अपने विचारों को अभिव्यक्त करना सीख जाता है। यह बौद्धिक विकास की सूचना है।

अब विकास के तीसरे आयाम 'मनो-सामाजिक विकास' को समझने के लिए हम एक उदाहरण लेंगे। एक छोटा-सा लड़का ७-८ वर्ष का अपने विद्यालय से लौटकर घर आया। वह घर में घुसते ही चिल्लाते हुए कहता है – 'माँ, खाना दो।' माँ यदि बीमार है, खाट से उठ नहीं पा रही है और कहती है – 'बेटा, खाना वहाँ रखा है, निकालकर खा ले। मुझे जोरों का बुखार है, उठा नहीं जा रहा है।' तो लड़का चीख-चीखकर कहता है – 'नहीं, उठो, तुम मुझे खाना दो।' और तब तक चिल्लाना बन्द नहीं करता, जब तक माँ उठकर उसे खाना नहीं देती। यह छोटा-सा बालक केवल अपने लिए ही जीता है, उसे दूसरों के दुःख, दूसरों की पीड़ा की परवाह नहीं है। वह दुराग्रही है। उसमें 'मनो-सामाजिक विकास' नहीं हुआ है। पर जब वही बालक बढ़कर किशोर हो जाता है, तब उसकी सहानुभूति की क्षमता बढ़ जाती है, दूसरों का दुःख-दर्द उसे अपना मालूम पड़ने लगता है। जब वह विद्यालय से घर लौटता है और माँ को खाट में पड़े देखता है, तो पूछता है – 'माँ, तुम्हें क्या हुआ?' माँ के शरीर पर हाथ लगाकर देखता है कि उसे तेज बुखार है। माँ उठते हुए कहती है – 'चल, तुझे खाना दे दूँ।' पर वह रोक देता है, माँ को सुला देता है, कहता है – 'माँ, तुम मत उठो, क्या करना है सो बता दो, मैं सब कर लूँगा, तुम आराम करो।' वह माँ की सेवा करता है, डॉक्टर को बुला लाता है, माँ को दवा-पथ्य देता है। यह उस लड़के का मनो-सामाजिक विकास है।

दुराग्रही व्यक्ति मनो-सामाजिक विकास से वंचित होता है। वह शारीरिक विकास के कारण शिशु से प्रौढ़ तो हो जाता है, परन्तु मनो-सामाजिक विकास के अभाव में वह शिशु के समान ही दुराग्रही रह जाता है। आजकल के मनो-चिकित्सकों के अनुसार सौ में से नब्बे दुराग्रहियों का या तो यकृत खराब होता है, या वे मन्दाग्नि अथवा किसी अन्य रोग से पीड़ित रहते हैं। व्यक्ति का मनो-सामाजिक विकास ही दुराग्रह की दवा है। ❖ ❖ ❖

माँ के सान्निध्य में (५६)

श्री प्रबोध तथा श्री मणीन्द्र

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था। उनके प्रेरणादायी वार्तालापों के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षों से प्रकाशित कर रहे है। इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशों का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है। प्रस्तुत है उसी ग्रन्थ के प्रथम भाग से आगे के अप्रकाशित अंशों का अनुवाद। – सं.)

१९०७ ई. में मैंने पहली बार माँ का दर्शन किया। १९०८ ई. के मध्य भाग में वर्षा के दिनों में उनका दूसरी बार दर्शन हुआ। इस बार मैं दोपहर के लगभग ११.३० बजे जयरामबाटी पहुँचा। प्रणाम करने पर माँ ने पूछा –

"तुम क्या मास्टर महाशय के छात्र हो?"

मैं – नहीं माँ, मैं उनके पास जाया करता हूँ।

माँ – वे कैसे हैं? तुम क्या हाल ही में गए थे?

मैं – सकुशल हैं। मैं आठ दिन पहले गया था।

दोपहर को भोजन करते समय मैंने पूछा, "इस समय क्या आपका कलकत्ते जाना होगा?"

माँ – दुर्गापूजा के समय जाने की इच्छा तो है। फिर माँ की जो इच्छा। ... तुम लोगों के खेत में धान होता है क्या?

मैं – हाँ माँ, होता है।

माँ – बहुत अच्छा। हमारी तरफ अच्छा धान नहीं होता। तुम्हारे यहाँ अरहर की दाल होती है क्या?

मैं – हाँ माँ।

माँ – बहुत अच्छा।

रात को भोजन के समय माँ ने पूछा, "क्या तुम इस समय घर में ही रहते हो?"

मैं – हाँ माँ, घर में ही हूँ। मुझ पर बड़ा संकट है – बड़ा बीमार हो गया था, उसके बाद विवाह हुआ।

माँ – विवाह हो गया?

मैं – हाँ माँ।

माँ – लड़की की आयु कितनी है?

मैं – लगभग तेरह साल।

माँ – जो हुआ है, अच्छा ही हुआ है; और क्या करोगे?

मैं – मास्टर महाशय ने विवाह करने से मना किया था।

माँ – अहा! स्वयं कष्ट पाया है न! इसीलिये कहते हैं कि तुम लोग कोई विवाह मत करना!

मैं – संसार में बड़ा झंझट है। संसार में फँसकर मनुष्य अपना मनुष्यत्व खो बैठता है।

माँ – सही बात है। केवल रुपया, रुपया, रुपया।

मैं – बड़ा पीड़ादायी है।

माँ – ठाकुर के गृहीभक्त भी तो हैं! चिन्ता कैसी?

मैं मौन हो गया।

माँ – मेरे भाइयों ने विवाह किया है।

मैं – आपकी अनुमति लेकर?

माँ – क्या करती! ठाकुर कहा करते थे, 'मल का कीड़ा मल में ही स्वस्थ रहता है, भात की हाड़ी में रखने से मर जायेगा।' और हम लोगों ने अपने चाचाओं की कितनी सेवा की है, आजकल की भतीजियाँ वैसा नहीं करतीं।

मैं – क्रमश: सब बदलता जा रहा है।

माँ – सो तो है। देखो न, पहले मैं चींटी तक नहीं मार पाती थी, परन्तु अब बिल्ली को भी पीट देती हूँ।

"ठाकुर कहा करते थे, 'यह भी करो, वह भी करो'। कहते थे, 'तूँहूँ तूँहूँ'। जीव बहुत दु:ख-कष्ट भोगने के बाद ही कहता है – तूँहूँ तूँहूँ।

"स्वार्थ! जब तक मनुष्य की मुट्ठी में दिखता है, तभी तक रहता है, उसके बाद नहीं।

"भय की क्या बात है, विवाह किया है – ठाकुर की इच्छा से वह भी ठीक हो जायेगा। हो सकता है उसका कोई पुण्य हो। वे कहा करते थे, 'विद्या से अविद्या में बल अधिक है' अर्थात् अविद्या माया ने संसार को मुग्ध कर रखा है।"

जगदम्बा आश्रम – कोयलपाड़ा, बाँकुड़ा

रविवार, २० अप्रैल, १९१९

मणीन्द्र, सातू और नारायण अयंगार आदि सुबह के लगभग १० बजे माँ को प्रणाम करने गये थे। माँ को आये एक महीने से ऊपर हो गया है। पुरुष-भक्तगण कोयलपाड़ा मठ में रहते हैं और वहीं भोजन आदि करते हैं।

श्रीमाँ की भतीजी माकू का पुत्र बड़ा बीमार है – उसे डिप्थिरिया हुआ है। जयरामबाटी में है। बैकुण्ठ महाराज उसकी देखभाल कर रहे हैं। माँ उसके लिये बड़ी चिन्तित हैं!

भक्तों के प्रणाम करके बैठते ही पहले वही प्रसंग उठा।

नारायण अयंगार – माँ, आपके आशीर्वाद से बच्चा ठीक हो जायेगा।

माँ – (हाथ जोड़कर कमरे के भीतर ठाकुर के चित्र की ओर देखकर) वे देख रहे हैं।

सातू – माकू के लड़के के लिये इन्होंने (नारायण अयंगार) बहुत कुछ (इंजेक्शन लाने के लिये अपने आदमी को कलकत्ते भेजना आदि) किया है ।

माँ – हाँ, अच्छे आदमी हैं । पैसा खर्च करके कालू को कलकत्ते भेजा – उनके न रहने पर कौन इतना सब करता?

नारायण अयंगार – मैं यंत्र हूँ, ठाकुर यंत्री हैं । वे मुझसे यंत्र के समान कार्य करा रहे हैं ।

माँ – ठाकुर ने कहा था, 'जिसके (धन-धान्य) है, वह मापे (दान करे); जिसके नहीं है, वह जपे ।'

नारायण अयंगार – जप करते समय क्या आचमन करना आवश्यक है?

माँ – हाँ, घर में करने से आसन-आचमन की आवश्यकता होती है । रास्ते में या कहीं अन्यत्र केवल नाम जपने से ही हो जायेगा ।

नारायण अयंगार – केवल नाम? मंत्रजप नहीं?

माँ – हाँ, मंत्रजप भी करना । पर मन को स्थिर करके एक बार उन्हें पुकारने से लाख जपों का फल होता है । नहीं तो दिनभर जप कर रहे हो, लेकिन मन उसमें नहीं है, तो उसका क्या फल होगा? मन चाहिये, तभी तो उनकी कृपा होगी ।

नारायण अयंगार – मैं जो कर रहा हूँ, उसी से हो जायेगा, या और भी करने की जरूरत होगी?

माँ – जो कर रहे हो, वही करो । तुम तो उनके कृपापात्र हो ही ।

नारायण अयंगार – दो-तीन दिन सरल भाव से पुकारने पर दर्शन मिलता है; परन्तु मैं इतने दिनों से पुकार रहा हूँ, पर दर्शन क्यों नहीं होता?

माँ – हाँ, जरूर होगा । शिव वाक्य और उनके मुख की बात है – यह बात मिथ्या हो ही नहीं सकती । सुरेन्द्र (मित्र) को उन्होंने कहा था, 'जिसके है, वह मापे (दान करे); जिसके नहीं है, वह जपे ।' (सबके प्रति) वह भी यदि न कर सको, तो (ठाकुर की ओर संकेत करते हुए) शरणागत – थोड़ा याद रखने से ही हो जायेगा कि मेरी कोई देखरेख करनेवाला है, एक माता या पिता है!

नारायण अयंगार – आप कह रही हैं इसीलिये मुझे विश्वास हो रहा है ।

राधू को एक बच्चा हुआ है । बच्चा होने के बाद से ही राधू ने बिस्तर पकड़ लिया है । उसे खिलाने का समय हो गया है, अत: माँ अब उठेंगी ।

माँ – अब राधू को खिलाने जाऊँगी ।

भक्तगण प्रणाम करके उठ रहे हैं । नारायण अयंगार भी श्रीमाँ के पादपद्मों का मस्तक से स्पर्श करके प्रणाम कर रहे हैं; माँ ने उनके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया ।

मणीन्द्र के प्रणाम करते समय माँ ने कहा, "बहू-माँ (मणीन्द्र की माँ) का क्या ही विश्वास है! वाराणसी जाने को कहने पर उसने कहा था, 'यही मेरी वाराणसी है, मैं कहीं भी नहीं जाऊँगी'।"

मणीन्द्र की माँ श्रीमाँ के पास ही रहती थीं । उनका देहावसान हुए एक वर्ष से अधिक हो गया । उन्होंने माँ की खूब सेवा की थी । माँ ने उनसे कहा था, "मेरे यहाँ पर कोई ज्यादा दिन नहीं ठहर सका, केदार की माँ थी और तुम हो ।"

सन्ध्या होने को थी, तभी समाचार आया कि माकू के बच्चे की हालत बड़ी खराब है । सुनकर माँ अत्यन्त उद्विग्न हो गयीं । ब्रह्मचारी वरदा से बोलीं, "पालकी तय करके रखना, यदि बच्चा जीवित रहा तो कल सुबह ही मैं चली जाऊँगी । सुबह ही मेरे लिये उसका समाचार लाना हो सकेगा क्या?"

मणीन्द्र – मैं और सातू खूब भोर में समाचार ला देंगे ।

थोड़ी देर बाद ही वैकुण्ठ महाराज जयरामबाटी से लौटे । माँ को यह समाचार देते ही उन्होंने विस्मित होकर पूछा, "तो क्या बच्चा अब नहीं है?"

सबको निरुत्तर देखकर वे बोलीं, "कितनी देर पहले उसकी मृत्यु हुई?"

वैकुण्ठ महाराज – साढ़े पाँच बजे ।

माँ – अभी जाने से देख सकूँगी?

वैकुण्ठ महाराज – नहीं माँ, उसे ले गये हैं ।

माँ खूब रोने लगीं । फिर थोड़ा रुकने के बाद वे और भी जोर जोर से रोने लगतीं । स्वामी केशवानन्द द्वारा सान्त्वना देने का प्रयास करने पर माँ रोते हुए बोलीं, "अजी केदार, मैं उसे भूल नहीं पा रही हूँ ।"

वह बच्चा एक बार माकू के साथ जयरामबाटी जाते समय न जाने कहाँ से कुछ चम्पा के फूल उठा लाया और माँ के पाँवों में डालकर बोला था, "देखो बुआ, कैसा हुआ है?" उसके बाद उसने प्रणाम करके श्रीमाँ के चरणों की धूलि ग्रहण की । बाद में वे फूल वह अपने कुर्ते की जेब में भरकर ले गया था । शरत् महाराज का उसके प्रति बड़ा लगाव था । बीमारी के समय उसने 'लाल मामा, लाल मामा' कहकर शरत् महाराज को खूब पुकारा था । माँ बोलीं, "शायद कोई भक्त आकर जन्मा था । आखिरी जन्म रहा होगा । नहीं तो तीन साल के बच्चे में इतनी बुद्धि और ऐसी पूजा कर सकता है! उसका लालन-पालन करने के कारण ही मुझे कष्ट हो रहा है ।"

इस प्रकार रोने-धोने तथा शोक व्यक्त करते काफी रात हो गई । रात के समय माँ ने महिलाओं से पूछा कि उनका भोजन हुआ है या नहीं । जब उन्होंने सुना कि (उनके स्वयं के न खाने के कारण ही) उन लोगों ने कुछ नहीं खाया है, तो उन्होंने थोड़ा-सा दूध और दो पूड़ियाँ लीं ।

अगले दिन सन्ध्या के समय मणीन्द्र और प्रभाकर माँ के पास गये थे। माकू के बच्चे की मृत्यु के कारण माँ का मन शोकमग्न था। उसी के बारे में बातें होने लगीं।

माँ – वह पूछता था कि फूलों को किसने लाल किया है? मैं कहती, 'ठाकुर ने किया है।' – 'क्यों?' – 'स्वयं धारण करने के लिये।' शरत् को बड़ा कष्ट होगा। पाँव में दर्द होने के बावजूद वह सर्वदा उसे गोद में लेता था। गोद में बैठकर वह पूछता, 'तुम्हारी माँ कहाँ है?' शरत् माकू को दिखाकर कहता, 'वह रही मेरी माँ।' बच्चा कहता, 'तुम्हारी माँ स्कूलवाले घर में गई है।'

उन दिनों राधू की बीमारी के कारण माँ कुछ दिनों से निवेदिता स्कूल के छात्रावास में ठहरी थीं, क्योंकि 'उद्‌बोधन'-भवन का शोरगुल राधू को सहन नहीं होता था।

मणीन्द्र – अक्षय का मृत्यु होने पर ठाकुर को भी बड़ा शोक हुआ था।

माँ – उन्होंने कहा था, 'गमछे को निचोड़ने के समान हृदय में पीड़ा हुई थी।' रिश्ते में दीनू नाम का मेरा एक भांजा विष्णु मन्दिर में पूजा किया करता था और हृदय कालीमन्दिर में पुजारी था। दीनू 'यशोदा तुम्हें नीलमणि कहकर नचाया करती थी' – आदि भजन गाकर ठाकुर को सुनाया करता था। उसे हैजा हुआ था।

मणीन्द्र – आप उस समय दक्षिणेश्वर में थीं?

माँ – हाँ, मैं नहबत में रहती थी। मैंने उसे ठाकुर के चरणों की धूल, अपने चरणों की धूल और माँ काली का स्नान जल दिया था। परन्तु वह बचा नहीं – उसकी मृत्यु हो गई। ठाकुर को बड़ा कष्ट हुआ था।

"मेरे छोटे भाई ने प्रवेशिका परीक्षा पास की थी, पढ़ाई-लिखाई में अच्छा था; डाक्टरी पढ़ रहा था। नरेन के साथ मिलने जाने पर नरेन ने उससे कहा था, 'माँ का ऐसा भाई है? बाकी सब तो 'सीधा' बाँधनेवाले ब्राह्मण हैं।' और भी कहा था, 'तुम्हें पेट के फोड़ों को काटना होगा। योगेन, तुम इसकी पढ़ाई का खर्चा जुटाना।' योगेन की मृत्यु हो गई। राखाल ने चालीस रुपये की पुस्तकें खरीद दी थी। राखाल और शरत् उसके साथ ताश खेला करते थे। उस भाई की मृत्यु हो गई।

"संसार माया का बन्धन है। (करुण स्वर में) अहा! माकू का ऐसा बच्चा था, जो अपने आप करवट तक नहीं बदल पाता था! देखो न, कितने दुःख की बात है!

"राधू का भी लालन-पालन करने में कितना कष्ट है! राधू का जन्म होने पर (मेरी) माँ ने कहा था, 'छोटी बहू की माँ उसे अपने घर ले जाना चाहती है, सो ले जाये न।' सुबह के समय (कलकत्ते में) पूजा करते समय – जैसे थियेटर का परदा हट जाता है (दोनों हाथों से बताते हुए) वैसे ही मैंने देखा – गाँव में राधू की माँ बड़ा कष्ट पा रही है, राधू को उसने थोड़े-से मुरमुरे दिये हैं, जिन्हें वह बाहर के बरामदे में कूड़े-कचरे तथा धूल पर बैठी खा रही है। राधू की माँ ने अपने पागलपन के चलते हाथों में कहीं लाल सूत तो कहीं नीला सूत बँधा रखा है। बाकी लड़के मिठाई आदि के साथ मुरमुरे खा रहे हैं – यह देखकर मैं पानी में डूबाए हुए के समान हाँफ उठी, समझ गई – मेरे छोड़ देने पर राधू की ऐसी ही अवस्था होगी।"

माँ का अपने छोटे भाई अभय के साथ बड़ा लगाव था। अपने भाइयों को पालकर उन्होंने बड़ा किया था। मृत्यु के समय अभय कह गया था, "दीदी, सब छोड़कर जा रहा हूँ, तुम देखना।" राधू उस समय माँ के पेट में थी। प्रसव के बाद राधू की माँ (सुरबाला) श्रीमाँ के साथ कलकत्ते आईं। बाद में पागल हो जाने पर उन्हें जयरामबाटी भेज दिया गया। राधू को वहाँ बड़ा कष्ट हो रहा था। बागबाजार के किराये के मकान में निवास करते समय श्रीमाँ ने एक दिन सुबह पूजा करते समय जयरामबाटी का वह दृश्य देखा और अभय की अन्तिम बातों का स्मरण करते हुए दो-चार दिनों के भीतर ही गाँव जाकर राधू के पालन-पोषण का भार ग्रहण कर लिया। माँ कहती थीं, "उसी समय से मुझे माया ने पकड़ लिया।"

एक अन्य समय श्रीमाँ बड़ी बीमार होकर कोयलपाड़ा में थीं। तभी राधू ससुराल जाने के लिये सहसा जयरामबाटी आ पहुँची। उसने माँ को कहा था, "तुम्हें देखनेवाले तो कितने भक्त हैं, पर मेरा तो पति को छोड़ और कौन है?" माँ ने इस पर कहा था, "कल राधू तो इस प्रकार मेरी माया काटकर चली गई। मन में भय हुआ, सोचा – तो क्या ठाकुर अब मुझे नहीं रखेंगे?" माँ ने और भी कहा था, "यह जो मैं राधी राधी किया करती हूँ, यह एक माया को छोड़ और क्या है!"

शाम का अन्धकार सघन होता जा रहा था। मणीन्द्र और प्रभाकर विदा लेने को तैयार हो रहे हैं। रात को ही वे लोग आरामबाग जायेंगे।

माँ ने कहा, "तुम लोग थोड़ा कुछ खा लो।"

प्रभाकर – हम लोग खाकर आए हैं।

माँ – थोड़ा खा क्यों नहीं लेते? अजी, थोड़ी मिठाई ला दो तो।

बाद में वे हमसे बोलीं, "तुम लोग खा-पीकर जाना।"

मणीन्द्र – ठीक है माँ।

माँ – गाड़ी ठीक हुआ है?

मणीन्द्र – हुआ है।

प्रणाम करके विदा करते समय माँ ने आशीर्वाद देते हुए कहा, "भगवान में मति हो।"

मणीन्द्र – माँ, हम लोगों की माया कट जाय।

इस बात पर माँ ने प्रसन्न होकर देखा। ❖ (क्रमशः) ❖

भीतर भी तो देखें

स्वामी सत्यरूपानन्द

किसी भी प्रकार की प्रगति या उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि हम यह ठीक ठीक जान लें कि हम कहाँ खड़े है? हमारी स्थिति क्या है? हम कहाँ अवस्थित हैं?

इन तथ्यों के ज्ञान के बिना किसी भी प्रकार की प्रगति या उन्नति सम्भव नहीं है। अपने सम्बन्ध में इन तथ्यों के ज्ञान के बिना हमारा जीवन मेलों में गोल घुमने वाले उन झूलों के समान हो जाता है जो दिन पर दिन घंटों घुमता रहता है किन्तु पहुँचता कहीं नहीं, वहीं का वहीं रह जाता है।

अपनी स्थिति और अवस्थिति को जानने का एकमात्र उपाय है आत्मनिरीक्षण अपने आप को देखना। जन्म से ही हम बाहर की ओर देखने के अभ्यस्त हैं। इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला सारा ज्ञान विज्ञान हमें बाहर की ओर से ही प्राप्त होता है। बाहर से प्राप्त होने वाला यह ज्ञान हमें अपने से बाहर के संसार का ज्ञान तो देता है, किन्तु हमारे भीतर के ससार के सम्बन्ध में हमें कुछ भी नहीं बता पाता। इसलिये बाहर के संसार के सन्दर्भ में बहुत कुछ जानकर भी हम अपने विषय में एकदम अनभिज्ञ, अज्ञानी रह जाते हैं। और हम सभी जानते हैं कि हमारे सभी दुःखों का कारण हमारा अपने विषय में अज्ञान ही है।

जीवन की उन्नति के लिये स्वयं के विषय में इस अज्ञान को दूर करना जरूरी है। कैसे दूर होगा यह अज्ञान? – आत्मनिरीक्षण से! आत्मनिरीक्षण कहाँ से और कैसे शुरू करें? इसे आज अभी इसी क्षण से प्रारम्भ किया जा सकता है। – कैसे प्रारम्भ करें? अवकाश के क्षणों में थोड़ा समय निकालिये। अपने कमरे में, घर के किसी कोने में या बाहर के किसी एकान्त स्थान में आराम से शान्त और शिथिल होकर बैठ जाइये। आँखें बन्द कर लीजिये तथा अपने मन में उठने वाले विचारों को वैसे ही देखते रहिये, जैसे कि टी.वी. या सिनेमा देखते हैं। केवल द्रष्टा होकर। थोड़ी अपनी कल्पना शक्ति का उपयोग कीजिये। उसकी सहायता लीजिये। अच्छे-बुरे जो विचार आएँ उन्हें निरपेक्ष भाव से देखते रहिये। उन विचारों पर विचार कीजिये। केवल द्रष्टा होकर निरपेक्ष द्रष्टा होकर देखते रहिये। उन पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न कीजिये।

आप पायेंगे कि पहले पहले विचारों का तूफान आपके मन में उठ रहा है। ऐसे ऐसे विचार आयेंगे जिनकी आपने कभी कल्पना भी न की होगी। आप आश्चर्य में पड़ जायेंगे कि आपके मन में ऐसे भी विचार थे। इससे घबराइये मत और अपना अभ्यास चालू रखिये निष्ठा के साथ चालू रखिये। अभ्यास चलता रहेगा तो विचारों का तूफान धीरे धीरे कम होने लगेगा। मन तनाव मुक्त होने लगेगा, हल्का महसूस करेंगे।

ऐसी अवस्था आने पर आप आत्म निरीक्षण के लिये उचित अधिकारी हो जाते हैं। अब आप अपने मन में उठनेवाले विचारों को निष्पक्ष होकर देख सकेंगे। अपनी इच्छाओं को पहचान सकेंगे। अब वह समय आ गया है कि आपको अपने विचारों पर विचार करना है कि कौन से उचित तथा उपयोगी हैं तथा कौन से अनुचित और व्यर्थ।

उसी प्रकार आपको अपनी इच्छाओं की भी जाँच करनी होगी। उन्हें भी परखना होगा। कौन सी इच्छा है जो जीवन की उन्नति और विकास में सहायक है। तथा कौन सी इच्छा असत् है जो जीवन विकास में बाधक है। इस प्रकार का विवेचन ही विवेक कहा जाता है। विवेक के द्वारा ही हम श्रेष्ठ विचार और सद् इच्छाओं का चयन करने में समर्थ होते हैं। वही विचार श्रेष्ठ तथा वही इच्छा सद् होती है जो नैतिक दृष्टि से शुद्ध तथा आध्यात्मिक दृष्टि से वरेण्य होती है। अपने विचारों और इच्छाओं सम्बन्धी यह ज्ञान आत्मनिरीक्षण से भिन्न और किसी उपाय द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। आत्मनिरीक्षण ही हमें अपने स्वभाव का ज्ञान देता है। अपने स्वभाव को जानकर ही हम जीवन में सफल हो सकते हैं। अपने स्वभाव को जानना अपने गुण दोषों को जानना है। आत्मसुधार और आत्म विकास के लिये अपने गुण दोषों को जानना नितान्त आवश्यक है। इनको जानकर ही हम अपने स्वभाव से दोषों को दूरकर गुणों का अर्जन कर सकते हैं। अपनी कमियों और दुर्बलताओं को जानकर ही हम इनको दूर करने में समर्थ होकर उसकी क्षतिपूर्ति कर आत्मसुधार के द्वारा अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास कर सकते हैं। और यह बात हम सभी लोग जानते हैं व्यक्तित्व के समुचित विकास के बिना कोई भी व्यक्ति जीवन में सफल नहीं हो सकता। जीवन की सफलता का अर्थ ही है अपने व्यक्तित्व का समुचित एवं सर्वांगीण विकास।

आत्मनिरीक्षण और आत्मसुधार सफल एवं शान्तिपूर्ण जीवन की कुंजी है। आत्मनिरीक्षण चरित्र गठन का तंत्र है। अतः किसी भी अन्य तकनीकी ज्ञान के समान आत्मनिरीक्षण को भी धैर्य एवं परिश्रमपूर्वक सीखना पड़ता है। अध्यवसाय-पूर्वक दीर्घकाल तक इसका अभ्यास करना पड़ता है। किन्तु परिश्रम और अध्यवसाय के द्वारा एक बार सध जाने पर यह हमारे चरित्र का अंग बन जाता है तथा सदैव सजग प्रहरी के समान सावधानीपूर्वक दोषों और दुर्गुणों से हमारी रक्षा कर जीवन लक्ष्य की ओर हमें अग्रसर करता रहता है।

अतः जितने शीघ्र हो सके हमें जीवन में आत्मनिरीक्षण का अभ्यास बना लेना चाहिये। ❖

संस्कृत भाषा : प्राचीन और अर्वाचीन का सेतु

डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर

(अनेकानेक पुरस्कारों से सम्मानित, वर्तमान काल के महानतम संस्कृत-विद्वानों में अग्रगण्य डॉ. वर्णेकर ने संस्कृत, मराठी. हिन्दी आदि भाषाओं में बहुत-से मूल्यवान ग्रन्थों की रचना की है । उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान तीन खण्डो में प्रकाशित उनका 'संस्कृत-वाङ्मय-कोष' है । भारत सरकार द्वारा घोषित इस 'संस्कृत-वर्ष' के अवसर पर हम इस विशेष लेखमाला का प्रकाशन कर रहे हैं । – सं.)

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में जो प्राचीनतम सामग्री प्राप्त हुई है, उनमें कुछ लेख भी हैं । ये ऐसी लिपि में लिखे हुए हैं, जो ब्राह्मी या खरोष्ठी (भारत की प्राचीनतम लिपियों) से मेल नहीं खातीं । कुछ विद्वानों ने उस लिपि को पढ़ने का प्रयास किया, परन्तु उनके निष्कर्षों में एकरूपता न होने के कारण, वह लिपि अभी तक अवाचित ही मानी जाती है ।

अजमेर जिले के बड़ली (या बर्ली) गाँव तथा नेपाल की तराई में पिपरहवा नामक स्थान में दो छोटे शिलालेख मिले हैं । उनके अक्षर पढ़े गये हैं, परन्तु जिस लिपि में वे लिखे गये हैं, वह सम्राट् अशोक से पूर्वकालीन मानी गई है ।

वैदिक वाङ्मय, त्रिपिटक साहित्य. जैन आगम, पाणिनी की अष्टाध्यायी, कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि प्राचीन प्रमाणों से तत्कालीन भारत की उन्नत लेखन-कला के अस्तित्व का परिचय मिलता है और उन प्रमाणों से यूरोपीय विद्वानों के इस मत का खण्डन होता है कि भारत को लिपिज्ञान पाश्चात्य या चीनी सभ्यता के सम्पर्क से प्राप्त हुआ । जैनों के पन्नवणा सूत्र और समवायंग सूत्र में १८ लिपियों के नाम मिलते हैं । बौद्धों के ललितविस्तर में ६४ लिपियों के नाम आए हैं, जिनमें ब्राह्मी और खरोष्ठी का भी उल्लेख है । अशोक के शहाबाजगढ़ी और मनसेहरा वाले लेख खरोष्ठी में हैं । इस लिपि में इसके पूर्व का कोई लेख नहीं मिलता । अशोक के बाद यह लिपि भारत में विदेशी राजाओं के सिक्कों और शिलालेखों में पाई गई है । भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश और पंजाब में खरोष्ठी के लेख मिले हैं । खरोष्ठी लिपि अरबी के समान दाहिने से बायी ओर लिखी जाती थी । पंजाब में तीसरी सदी तक इस लिपि का प्रचार कुछ था । बाद में वहाँ से भी यह लुप्त हो गयी ।

भारत की प्राचीन लिपियों में ब्राह्मी अधिक सरल तथा परिपूर्ण लिपि थी । इसीलिए इसे साक्षात् ब्रह्मा द्वारा निर्मित माना गया । इस लिपि की भारतीयता के बारे में पाश्चात्य विद्वानों मे दो मत हैं । विल्सन, प्रिंसेप, मूलर, सेनार्ट, डीके, कुपेरी, विलियम जोन्स, वेबर, टेलर, बूलर आदि विद्वान इसका मूल भारत के बाहर मानते हैं, पर एडवर्ड टामस, डायसन तथा कनिंघम जैसे पाश्चात्य पण्डित और श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा तथा डॉ. तारापुरवाला जैसे भारतीय लिपि-शास्त्रियों के मतानुसार, ब्राह्मी की उत्पत्ति भारत में ही हुई ।

ई. पू. पाँचवीं सदी से चौथी सदी तक के प्राप्त लेखों में ब्राह्मी लिपि मिलती है । बाद में ब्राह्मी से उद्भूत पाँच उत्तरी और छह अन्य (पश्चिमी, मध्यप्रदेशी, तेलगू-कन्नड़ी, ग्रन्थलिपि, कलिंग लिपि और तमिल) लिपियाँ मिलती हैं ।

उत्तरी ब्राह्मी लिपियों में, ई. आठवीं सदी से प्रचारित हुई नागरी लिपि विशेष महत्वपूर्ण मानी गई है । गुजराती तथा बँगला लिपि के साथ इसका सादृश्य दिखाई देता है । मराठी और हिन्दी भाषाओं की यही लिपि है । नेपाल की यह राजलिपि है और संस्कृत के बहुसंख्य प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ इसी लिपि में मिलते हैं । १०वीं से १२वीं सदी तक, इस लिपि में यथोचित सुधार होता गया और १२वीं सदी में उसका वर्तमान रूप सुस्थिर-सा हो गया । टंकमुद्रण की सुविधा के लिए, वीर सावरकर, आचार्य विनोबा भावे जैसे मनीषियों ने इस लिपि में कुछ विशेष सुधार सुझाए और स्वराज्य प्राप्ति के बाद भारतीय शासन ने इसका वर्तमान स्वरूप निर्धारित किया, जिसमें अंकों के लिये सार्वत्रिक समानता की दृष्टि से यूरोपीय चिह्न स्वीकृत कर लिए गये । नागरी को देवनागरी और नन्दिनागरी भी कहते हैं ।

अतिप्राचीन काल से संस्कृत भाषा सम्पूर्ण भारत के विद्यालयों के अध्ययन-अध्यापन का और विद्वानों के भाषण तथा लेखन का माध्यम रहा है । अशिक्षित या अल्पशिक्षित समाज में संस्कृत भाषा का लेशमात्र परिचय रखनेवाले सज्जन के प्रति परम श्रद्धा थी और आज भी है । संस्कृत का कोई भी उद्धरण, बहुजन समाज में प्रमाणभूत माना जाता रहा है । जातिभेद की कट्टरता तथा छूआछूत की दुष्ट रूढ़ि के कारण कुछ प्रदेशों के निम्न स्तर के समाज में इस भाषा का प्रचार नहीं हुआ । स्त्रियों तथा निम्नवर्गीयों को वेदाध्ययन के लिये मनाही रही, परन्तु लौकिक काव्य नाटक आदि साहित्य के अध्ययन तथा पुराण-श्रवण के लिये ऐसा कोई निषेध नहीं था । दूसरी ओर सम्पूर्ण भारत का विद्याप्रेमी वर्ग निरन्तर ही संस्कृत का अध्ययन, अध्यापन तथा लेखन करता रहा है । यह सारा संस्कृतज्ञ वर्ग, अपनी प्रादेशिक भाषा की लिपि के अतिरिक्त देवनागरी लिपि से परिचित था । गुजराती में तो जहाँ कहीं संस्कृत उद्धरण आते हैं, वहाँ उन्हें देवनागरी में ही लिखा जाता है ।

भारत में भाषिक एकता के साथ समान-लिपि का समर्थन सभी एकतावादी लोगों ने किया है । संस्कृत के मामले में लिपि की यह समानता अभी तक सुरक्षित रही है । संस्कृत भाषा का सर्वत्र जितना प्रचार-प्रसार होगा, उतनी ही भारतीय नेताओं की समान राष्ट्रीय लिपि की आकांक्षा पूरी होगी ।

पाश्चात्य देशों में संस्कृत लेखन या मुद्रण के लिये, वहाँ की लिपि में, संस्कृत वर्णो के समुचित उच्चारण के लिये यथोचित सुधार कर रोमन लिपि में ही संस्कृत का मुद्रण हो रहा है । पर पर्याप्त प्रचार के अभाव में भारत का संस्कृतज्ञ समाज उस अन्तर्राष्ट्रीय लिपि को पढ़ने में असमर्थ है ।

संस्कृत भाषा की अखण्ड धारा

पाणिनी के काल से ही संस्कृत के दो रूप रहे हैं – वैदिक और लौकिक । १७वीं सदी में भट्टोजी दीक्षित ने पाणिनि कृत अष्टाध्यायी के सूत्रों का विषयानुसार वर्गीकरण करके 'सिद्धान्त-कौमुदी' नामक जो सुप्रसिद्ध व्याकरण-ग्रन्थ लिखा, उसमें भी लौकिक शब्दों का विवरण देने के बाद अलग से वैदिक शब्दों का विवरण दिया गया है ।

समग्र संस्कृत वाङ्मय का वर्गीकरण भी प्राय: इन्हीं दो भागों में किया गया है । संस्कृत साहित्य की समीक्षा करने वाले अनेक आधुनिक ग्रन्थ भारतीय तथा अभारतीय भाषाओं में लिखे गये । इन संस्कृत वाङ्मय-इतिहास के ग्रन्थों में कुछ ग्रन्थ केवल लौकिक संस्कृत साहित्य की ही समीक्षा करनेवाले हैं । इसके अतिरिक्त बौद्ध संस्कृत वाङ्मय, जैन संस्कृत वाङ्मय तथा प्रादेशिक संस्कृत वाङ्मय का भी पृथक विवेचन करनेवाले इतिहास-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं ।

साहित्य, व्याकरण, दर्शन आदि शास्त्रीय विषयों के इतिहास पर भी अलग अलग लेख लिखे गए हैं । हिन्दी में उपरोक्त सभी प्रकार के इतिहास-प्रबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं । अनेक शोध-छात्र संस्कृत साहित्य के किसी विशिष्ट अंग या अंश का सर्वागीण विवेचन करनेवाले शोध-प्रबन्ध लिख रहे हैं । इन सभी लेखकों ने प्राय: १२वीं या अधिक-से-अधिक १५वीं शताब्दी तक निर्मित (और आधुनिक मुद्रण में मुद्रित) हुए साहित्य की ही समीक्षा की है ।

अनेक विश्वविद्यालयों एवं शोध-संस्थानों द्वारा संस्कृत में उपलब्ध हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियाँ भी बनाई हैं और अब भी बन रही है । १५वीं या १६वी सदी के बाद भी भारत के सभी प्रदेशों में जो बहुत-सा संस्कृत साहित्य रचा गया है, जिसका कुछ अंश प्रकाशित भी हुआ है, परन्तु उपरोक्त लेखकों तथा सम्पादकों ने उनकी समीक्षा नहीं की है । स्वाधीनता के बाद कुछ संस्कृतोपासकों का ध्यान संस्कृत के इस उपेक्षित भण्डार की ओर आकृष्ट हुआ । उन्होंने अर्वाचीन संस्कृत साहित्य की सर्वागीण समीक्षा करनेवाले शोध-प्रबन्ध लिखे । इन प्रबन्धों ने जो एक बहुत बड़ा कार्य किया, वह यह है – यूरोपीय विद्वानों ने १२वीं सदी के बाद रचित हुए संस्कृत साहित्य की उपेक्षा करते हुए कहा कि उसके बाद इसमें साहित्य का निर्माण ही नहीं हुआ और इस युक्ति के आधार पर उसे 'मृत' या 'मृतवत्' घोषित कर दिया था । संस्कृत को मृत भाषा घोषित करने के लिए दो प्रमुख कारण बताए गये – एक तो इसका वार्तालाप आदि में उपयोग नहीं होता है और दूसरे इसमें नये साहित्य का निर्माण बन्द हो चुका है । सामान्य स्तर के सुशिक्षितों ने इसे सत्य मानकर संस्कृत को मृत-भाषा कहना शुरू कर दिया । संस्कृत वक्ता अपने भाषणों द्वारा निरन्तर इसकी सजीवता का प्रमाण देते रहे हैं और आज भी दे हैं । परन्तु साहित्य-निर्माण का प्रमाण उपलब्ध कराना थोड़ा कठिन था । अर्वाचीन संस्कृत साहित्य विषयक प्रबन्धों ने उसका भी प्रमाण स्थापित कर दिया ।

अति प्राचीन काल से ही आज तक संस्कृत भाषा तथा उसके साहित्य की अखिल भारतीयता, उसके प्रति भारत के सभी भाषा-भाषी प्रबुद्ध जनता की श्रद्धायुक्त आत्मीयता तथा भारत में विद्यमान सभी प्रादेशिक भाषाओं को समृद्ध करने में उसकी अद्‌भुत नवशब्द-निर्माण क्षमता – इन तीन कारणों से किसी प्रदेश की राजभाषा न होते हुए भी, यह सम्पूर्ण भारत की सर्वश्रेष्ठ तथा अग्रपूज्य भाषा मानी जाती है । यह निर्विवाद सत्य है कि भारतीय संस्कृति का मूलग्राही तथा सर्वागीण ज्ञान संस्कृत वाङ्मय में अवगाहन से ही सम्भव है, अत: भारत के बाहर भी अन्यान्य राष्ट्रों के प्रमुख विश्वविद्यालयों में बड़े आदर के साथ संस्कृत का अध्ययन होता है ।

आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों के मतानुसार दक्षिण की तमिल, मलयालम, तेलगू, कन्नड़, तुलु, कोंकड़ी, कोड़गू तथा तोड़कोटा आदि भाषाओं को द्रविड़ भाषा-परिवार के अन्तर्गत माना जाता है । साथ ही मध्यभारत की गोंडी, कुरुख, माल्टो, कंध, कुई और कोलामी जैसी वन्य जातियों की भाषाएँ भी द्रविड़ भाषा-परिवार के अन्तर्गत मानी जाती है । काल्डवेल नामक भाषा-वैज्ञानिक ने अपने शोध प्रबन्ध में द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है, जिसमें संस्कृत और तमिल भाषा में दृश्यमान भेद को बढ़ाने का प्रयास किया गया है । इस विभिन्नता के बावजूद, भारत की आर्य-परिवार के अन्तर्गत आनेवाली भाषाओं के विकास में जिस मात्रा में संस्कृत की सहायता मिली है, उसी मात्रा में द्रविड़ परिवार की प्रमुख दाक्षिणात्य भाषाओं के विकास में भी संस्कृत की पर्याप्त सहायता मिली है । मलयालम भाषा में तो संस्कृत के तत्सम तथा तत्भव शब्दों का परिमाण ८०% तक माना जाता है । भारतीय भाषाओं में जो विभाजन रेखा पाश्चात्य भाषाविज्ञों ने निर्माण की है, उसे मानने पर भी, उत्तर और दक्षिण भारत की विभिन्न भाषाओं के बीच एकता तथा एकरूपता स्थापित करनेवाली भाषा संस्कृत ही है । इस दृष्टि से भारत की भाषिक एकता के इच्छुक सभी को संस्कृत की श्रीवृद्धि करना अत्यावश्यक है ।

❖ ❖ ❖

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

नगेन्द्रनाथ गुप्त

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया व उनका सामीप्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने-वाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियों को लिपिबद्ध किया है। ये संस्मरण अनेक पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं और उनमें से कुछ का हिन्दी में भी प्रकाशन हो चुका है। प्रस्तुत लेख अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से लिया गया है और इसके अनुवाद में हमें नागपुर की श्रीमती कान्ता सिन्हा का विशेष सहयोग मिला है, जिसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। – सं.)

स्वामी विवेकानन्द की इहलीला समाप्त हुए लगभग चौथाई (अब पूरी) शताब्दी बीत चुकी है। हर बीता हुआ वर्ष उनकी महानता को रेखांकित करते हुए इनकी प्रशंसा का दायरा बढ़ाता जा रहा है। परन्तु जिन लोगों ने उन्हें देखा और सुना था, वह पीढ़ी भी अब क्रमश: समाप्तप्राय है। उस पीढ़ी के बचे हुए लोगों का स्वामीजी तथा राष्ट्र के प्रति कर्तव्य हो जाता है कि वे उस व्यक्ति के अपने संस्मरण लिपिबद्ध कर जायँ, जो सार्वलौकिक सहमति से न केवल महानतम भारतवासियो में से एक, अपितु विश्व स्तर की एक महान् हस्ती थे।

उनके शिष्यों ने चार (अब दो खण्डों में उपलब्ध) खण्डों में उनकी बड़ी सुन्दर तथा सर्वांगीण जीवनी लिखी है, अत: यहाँ उनकी जीवनकथा को दुहराने से कोई लाभ नहीं है। मैं व्यक्तिगत रूप से जैसा उन्हें जानता था, यहाँ मैं उसी से सम्बन्धित अपने निजी स्मृतियों के दो शब्द लिपिबद्ध करने का प्रयास करते हुए, उनके जीवन की कुछ ऐसी छोटी-मोटी सार्थक तथा महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख करूँगा, जो उनके वंशानुगत स्वभाव तथा गुणों के कारण उन्हें अपने आसपास के अन्य लोगों में वैशिष्ट्य प्रदान करती हैं।

मैं स्वामीजी को तब से जानता हूँ, जब वे एक अज्ञात तथा साधारण-से युवक थे, क्योंकि मैं भी उनके साथ ही कॉलेज में पढ़ता था। तदुपरान्त जब वे प्रसिद्धि तथा महिमा से मण्डित होकर अमेरिका से लौटे, तब भी मेरी उनसे मुलाकात हुई थी। उस समय उन्होंने मेरे साथ कई दिनों तक निवास किया और खुले दिल से मुझे इस दौरान घटी अपने जीवन की बहुत-सी बातें बताईं। फिर उनकी महासमाधि के कुछ काल पूर्व कलकत्ते के समीप स्थित बेलूड़ मठ में मैं अन्तिम बार उनसे मिला था। दूसरी से सुनी हुई बातों को छोड़कर, मैं यहाँ उन्हीं के मुख से सुनी हुई उनके जीवन की कुछ बातों का वर्णन करूँगा।

स्वामी विवेकानन्द की ओर जब पहली बार लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ, उस समय भारत की हालत बड़ी विचित्र थी। जबरन विदेशी शासन तथा विदेशी संस्कृति थोपे जाने से, भारतीय जीवन तथा विचारों पर उसका बड़ा ही अनिष्टकारी प्रभाव हुआ था। पाश्चात्य जड़वाद के कृत्रिम चकाचौंध के फलस्वरूप हमारे प्राचीन आदर्श या तो विस्मृत अथवा आच्छन्न हो गये थे। उस काल की अधिकांश भारतीय संस्थाओं के चारों ओर एक अवास्तविकता का परिवेश व्याप्त था। क्रिया के प्रत्येक क्षेत्र में प्राचीन काल की निष्ठापूर्ण मानसिकता के स्थान पर एक तरह के दम्भपूर्ण चाटुकारिता का बोलबाला हो गया था। सुदृढ़ लक्ष्यों के प्राचीन खूँटे अपने स्थान से च्युत हो चुके थे और सब कुछ विदेशी हवा तथा भावतरंगों के बीच स्वाधीन रूप से तैर रहा था। प्राचीन आर्यों ने अनुभव किया था कि बिना बलिदान तथा आत्मसमर्पण के कोई भी उपलब्धि सम्भव नहीं है, परन्तु अपने नये परिवेश के बीच आधुनिक भारतवासियों ने सोचा कि उपलब्धि के लिए समर्पण की कोई आवश्यकता नहीं। पश्चिम का अनुकरण करते हुए भारतीय सुधारक सुख-सुविधा के बीच रहकर अपने कार्य में जुट गये। शौक से प्रेरित उनकी कार्यशैली गम्भीर समस्याओं की जड़ में न जाकर, उनका स्पर्श मात्र करती थीं। वे लोग अपनी मोहक वाक्पटुता तथा व्याख्यान-कुशलता के द्वारा अपने श्रोताओं की भावनाओं तथा संवेदनाओं में हलचल तो उत्पन्न कर देते थे, परन्तु उनके सुझावों में कोई दृढ़ता न होने के कारण उनका प्रभाव क्षणस्थायी ही होता था। प्राचीन आदर्शों के लौटने की जो थोड़ी-सी आशा बची थी, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि भारत उन दिनों संक्रान्ति के महान् दौर से गुजर रहा था। सम्भवत: यह आत्म-प्रवंचना सायास न थी, तथापि लोग ठगे जा रहे थे और पाखण्ड को वास्तविकता समझने लगे थे। सर्वत्र दृश्यमान एक शान्त-सौम्य आत्मतुष्टि का भाव निश्चित रूप से हमारी उस बढ़ती हुई दुर्बलता का द्योतक था, जिसके फलस्वरूप हम अपनी चिरकाल से प्रतिष्ठित भारतीय परम्परा में निहित समस्त शाश्वत जीवन-मूल्यों का नाश करनेवाले भावों तथा विचारों की बाढ़ को रोक पाने में असमर्थ थे।

इन निराशाजनक परिस्थितियों के बीच सहसा ही उन रामकृष्ण परमहंस का उदय हुआ, जो अब तक लोगो की दृष्टि से ओझल रहकर कठोर तपस्या तथा साधना में लगे हुए थे। प्राचीन काल के कुछ पैगम्बरों के समान ही वे भी व्यावहारिक रूप से प्राय: निरक्षर ही थे। वे एक मन्दिर के पुजारी का कार्य करते थे और बाद में उसके लिए भी अक्षम हो गये। सामान्य लोगों ने उन्हें पागल समझा, वस्तुत: उनकी अन्तरात्मा सच्चे ज्ञान की खोज तथा उसकी अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष कर रही थी। सत्य की उपलब्धि हो जाने के बाद उन्होंने भीड़-भाड़ से परहेज करना छोड़ दिया और उनके इर्द-गिर्द उत्साही युवकों

की एक छोटी-सी टोली एकत्र हो गयी, जो उनसे मार्ग-दर्शन लेकर उनके उपदेशानुसार चलना चाहती थी। उनके बहुत-से उपदेश संग्रहित तथा प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु इनसे उनके व्यक्तित्व की झलक मात्र ही मिलती है। एक पूर्ण सत्य के रूप में यह कहा जा सकता है कि वे उन चुने हुए व्यक्तियों में से एक थे, जो सुदीर्घ अन्तराल के बाद किसी महान् उद्देश्य के साथ धरती पर अवतरित होते हैं। यह मेरा परम सौभाग्य था कि मैंने उन्हें बोलते हुए सुना; और मुझे तब भी और आज भी यह अनुभव हो रहा है कि ऐसे महापुरुष की बातें सुनने का महान् सौभाग्य अत्यन्त दुर्लभ होता है।

परमहंस की भाषा बोलचाल की बँगला थी। उनकी वाणी उतनी लचीली नहीं थी, क्योंकि उसमें जरा-सी मजेदार हकलाहट रहा करती थी। परन्तु उनके शब्दों से एक इन्द्रजाल बनता जाता था और वे अपने आध्यात्मिक अनुभवों की सम्पदा, उपमाओं तथा दृष्टान्तों के अक्षय भण्डार, अनुपम निरीक्षण-शक्ति, तीक्ष्ण पर सूक्ष्म व्यंग्य-विनोद, सहानुभूतिपूर्ण अद्भुत उदारता और ज्ञान के अक्षुण्ण प्रवाह के द्वारा लोगों को सम्मोहित कर डालते थे।

परमहंसदेव के चौम्बकीय व्यक्तित्व के द्वारा आकृष्ट हुए लोगों तथा युवकों में नरेन्द्रनाथ दत्त भी थे, जो बाद में स्वामी विवेकानन्द के रूप में सुविख्यात हुए। श्रीरामकृष्णदेव के पास पास आनेवाले अन्य युवकों की तुलना में उनके भीतर कोई खास वैशिष्ट्य देखने में नहीं आता था। वे एक औसत विद्यार्थी थे और (संसार की दृष्टि से) उनमें कोई भावी सम्भावना नहीं दीख पड़ती थी, क्योंकि विधाता ने उनके लिए किसी भी प्रकार का प्रशिक्षणयुक्त या बिना प्रशिक्षण की आजीविका ग्रहण करने की व्यवस्था नहीं की थी, परन्तु उनके गुरुदेव ने पहले से ही बहुत-से लोगों में से उन्हें पहचान लिया था और उनके महान् कार्य के विषय में भविष्यवाणी कर दी थी। श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "वह एक सहस्त्रदल कमल है", जिसका तात्पर्य था कि यह नवयुवक उन ऐसे कुछ लोगों में से एक है, जो इस धरती पर एक महान् उद्देश्य तथा जननायक बनने के सभी संसाधनों के साथ जन्म लेते हैं। उनका संकेत धार्मिक क्षेत्र की ओर था, क्योंकि परमहंस के लिए सांसारिक उपलब्धियों का कोई महत्व नहीं था। श्रीरामकृष्ण, न केवल लोगों के चेहरों को अचूक भाव से पढ़ सकते थे, अपितु उनमें एक असाधारण मानसिक शक्ति भी थी, जिसका प्रदर्शन उन्होंने स्वयं स्वामी विवेकानन्द के ही प्रकरण में किया था। ये युवक नियमित रूप से परमहंसदेव के पास नहीं जाते थे। एक बार तो कई सप्ताह बीत गये, परमहंसदेव ने उनके बारे में बड़ी व्याकुलता के साथ बारम्बार पूछताछ की और अन्त में विवेकानन्द के ही एक साथी को उन्हें साथ ले आने का काम सौंप दिया। यहाँ पर यह बता देना उचित होगा कि परमहंसदेव कलकत्ता के उत्तर में कुछ मील की दूरी पर स्थित दक्षिणेश्वर के मन्दिर में निवास करते थे।

परमहंसदेव ने कह रखा था कि जब नरेन्द्र आएँ, तो उस समय कमरे में कोई न रहे। जैसे ही युवक ने कमरे में पाँव रखा, वे अपने आसन से यह बोलते हुए उठ खड़े हुए, "मैं तुझे देखने को आकुल हूँ, पर तू मुझसे दूर दूर क्यों रहता है?" और युवक के निकट पहुँचकर अपनी एक उंगली धीरे-से उनकी छाती पर रखकर उनका स्पर्श किया। स्वामी विवेकानन्द के अपने शब्दों में, "मैंने उसी क्षण एक चकाचौंध-भरे प्रकाश की चमक देखी और लगा कि मेरे पाँव के नीचे से धरती खिसकती जा रही है। मैं घबराहट के स्वर में चिल्ला उठा, 'मेरे साथ आप यह क्या कर रहे हैं? मेरे माता-पिता जो हैं!' परमहंसदेव ने उनकी पीठ थपथपा कर शान्त करते हुए कहा, "ठीक है, ठीक है, इतना काफी है।"

इस घटना के थोड़े दिनों बाद ही विवेकानन्द परमहंसदेव के पट्ट शिष्य हो गये। उनके ऐसे शिष्यों की संख्या बहुत कम थी और परमहंसदेव बड़ी सतर्कता के साथ उन्हें चुनते थे। इनमें से प्रत्येक शिष्य को बिना किसी ढील के निरन्तर कठोर अनुशासन में रहना पड़ता था। दुलार-पुचकार को वहाँ कोई स्थान न था। परमहंसदेव द्वारा विवेकानन्द के बारे में की गयी भविष्यवाणी किसी प्रचार-संस्थान को नहीं दी गयी थी और स्वामीजी तथा उनके अन्य गुरुभाई सदैव अपने गुरुदेव की सतर्क दृष्टि के दायरे में ही रहते थे। शिष्यों ने बड़े कठिन व्रत धारण कर रखे थे और परमहंसदेव की महासमाधि के उपरान्त भी अबाध गति से यह तपस्या जारी रही। इसके बाद विवेकानन्द वाराणसी गये और वहीं पर उन्होंने सही ढंग से वेदमंत्रों तथा सूक्तों का सही उच्चारण तथा मधुर पाठ की शैली सीखी, परवर्ती काल में वे इन्हें अपने मधुर गम्भीर कण्ठ से अत्यन्त प्रभावी ढंग से गाया करते थे। मित्रों के अनुरोध पर मैंने उन्हें सूक्ष्म टेनोर (धैवत सुर जो पुरुष का उच्चतम स्वर है) में भी गाते हुए सुना है। और भाषण देते समय उनके स्वर में शक्ति तथा संगीत – दोनों का ही सम्मिश्रण रहता था।

रामकृष्ण परमहंस प्राय: ही समाधि में चले जाया करते थे। उन्हें समाधि में प्रेरित करने का कारण निश्चित रूप से कोई-न-कोई आध्यात्मिक अनुभूति या दिव्य दर्शन ही हुआ करता था। १८८१ ई. में एक बार केशवचन्द्र सेन के साथ जल-मार्ग से (नाव में) परमहंस का दर्शन करने के लिए जानेवालों की टोली में मैं भी शामिल था। वह स्टीमर केशव के दामाद महाराज नरेन्द्र नारायण भूप का था। परमहंसदेव को भी स्टीमर पर लाया गया। जैसा कि सर्वविदित है, वे माँ-काली के भक्त थे, परन्तु इसके साथ ही वे निराकार ब्रह्म के

ध्यान में भी सिद्ध थे और इस विषय पर पहले उनकी केशव से बातचीत हो चुकी थी। वे केशव की ओर ही मुख किये उनके निकट बैठे थे और उनकी बातचीत मानो स्वगत-भाषण के समान थी। केशव अथवा हम में से कोई उनसे एक प्रश्न पूछता और उत्तर में परमहंसदेव अपनी अद्भुत शब्दावली तथा दृष्टान्तों के द्वारा श्रोताओं को सम्मोहित कर देते थे। हम सभी सांस रोके तीव्र उत्कण्ठा के साथ उनकी वाणी सुन रहे थे। धीरे धीरे बातचीत निराकार ब्रह्म पर आ गयी। परमहंस ने दो-तीन बार स्वगत में निराकार शब्द का उच्चारण किया और समाधि में डूब गये। उनका शरीर निस्पन्द हो गया, मांसपेशियों के स्नायुओं में भी कोई कम्पन नहीं रहा और उनके किसी भी अंग में कोई हलचल नहीं थी। उनके हाथों की उंगलियाँ उनकी गोद में पड़ी थीं, जो थोड़ी मुड़ गयी थीं। परन्तु एक बड़ा ही अद्भुत परिवर्तन उनके चेहरे पर दृष्टिगोचर हो रहा था। मानो मुस्कुराहट की मुद्रा में उनके होठ थोड़े खुले हुए थे और उनके बीच से श्वेत दन्तावली चमक रही थी। उनकी आँखें अर्ध-निमीलित थीं, जिनसे पुतलियों का कुछ अंश दिखाई दे रहा था। उनके समूची आकृति तथा मुखमण्डल पर एक अकथनीय भाव तथा एक परम पवित्र और समाधियुक्त आह्लाद था। हम लोग अत्यन्त आदर के साथ थोड़ी देर तक उन्हें निहारते रहे, तदुपरान्त केशव की टोली के गायक-सहचर माने जानेवाले त्रैलोक्यनाथ सान्याल संगीत के साथ एक भजन गाया। परमहंसदेव ने धीरे धीरे अपनी आँखें खोलीं, प्रश्नसूचक दृष्टि से क्षण भर के लिए चारों ओर देखा और बातचीत पुनः प्रारम्भ कर दी। अपनी समाधि के विषय में न तो उन्होंने कुछ कहा और न हमने ही कुछ पूछा।

एक अन्य समय परमहंसदेव को कलकत्ते का चिड़ियाघर देखने की इच्छा हुई। उनकी उत्सुकता बच्चों जैसी थी, तनिक भी विलम्ब उन्हें सह्य न था। कभी कभी उनके तौर-तरीके श्रीमद् भागवत में लिखे कथन की स्मृति दिला देते थे कि मुक्त तथा ज्ञानी लोग अपने बालवत् आचरण से भी पहचाने जा सकते हैं। उनके लिए एक बग्घी का प्रबन्ध किया गया। कुछ शिष्य भी उनके साथ गये। दक्षिणेश्वर से लम्बा मार्ग तय करके सभी अलीपुर पहुँचे। चिड़ियाघर में प्रवेश करने पर उनके साथ के लोग उन्हें अनेक प्रकार के जन्तु तथा जल में रहनेवाले जीवों का संग्रह दिखाने लगे, परन्तु उन्होंने उस ओर ध्यान न देते हुए कहा, "मुझे सिंह दिखाने ले चलो।" माँ-काली जब दुर्गा या पार्वती का रूप धारण करती हैं, तब वे सिंह की सवारी करती हैं। सिंह के पिंजड़े के बाहर खड़े होकर ध्यान से उसे निहारते हुए वे बोले, "यह माँ का वाहन है।" देखते-ही-देखते वे समाधि में चले गये। यदि लोगों ने उन्हें बाँहों से सहारा न दे रखा होता, तो वे धरती पर गिर जाते। बाह्य चेतना लौटने पर उनसे उद्यान में घूमकर बाकी पशु-पक्षियों का परिदर्शन करने का अनुरोध किया गया। इस पर परमहंसदेव बोले, "पशुओं के राजा को देख लेने के बाद अब भला देखने को बचा ही क्या है?" और वे प्रतीक्षारत घोड़ागाड़ी में जा बैठे और वापस लौट पड़े।

पूर्वोक्त दो अवसरों पर उन्हें होनेवाली समाधि के कारणों में भेद है। पहली बार तो वे निराकार ब्रह्म रूपी सर्वोच्च तथा दुर्बोध्य आध्यात्मिक तत्त्व के बारे में चिन्तन कर रहे थे; और दूसरी बार तो वे केवल पिंजड़े में बन्द सिंह को देखकर ही समाधिस्थ हो गये। परन्तु दोनों ही घटनाओं में चित्त तथा मन को एकाग्र करने की प्रणाली समान है। पहली में निराकार परम ब्रह्म की गहन अनुभूति है, तो दूसरी में माँ-काली के साथ अभिन्न रूप से जुड़े प्रतीकात्मक चिह्न को देखकर ही उन्हें समाधि लगी थी। इन दोनों ही घटनाओं में उनका मन बाकी समस्त विचारों को छोड़कर केवल एक ही आध्यात्मिक विचार से आच्छादित होकर वैषयिक जगत् को विस्मृत करके समाधि में डूब जाता है। समाधि अवस्था में परमहंसदेव का लिया गया कोई भी चित्र उनके उस समय के मुखमण्डल पर फैली आन्तरिक आभा तथा ब्रह्मानन्द की अभिव्यक्ति को प्रकट करने में सफल नहीं हो सका है।

परीक्षा की कसौटी तथा अनुशासन के दौर से गुजर रहे एक उत्साही युवक की भाँति विवेकानन्द की इच्छा थी कि वे निरन्तर समाधि अवस्था की अनुभूति कर सकें। परमहंसदेव ने उनको समझाया कि ऐसा इसलिए सम्भव नहीं है, क्योंकि उन्हें धर्म-स्थापना के लिए महत्वपूर्ण कार्य करने हैं। परन्तु विवेकानन्द भला कहाँ माननेवाले थे! एक बार ध्यान करते समय उन्हें भी समाधि लग गयी। परमहंसदेव को सूचित किये जाने पर वे बोले, "उसे थोड़ी देर इसका रसास्वादन कर लेने दो।" बाद में विवेकानन्द को अनुभव हुआ कि गुरुदेव ने ठीक ही कहा था और वह दिन भी आया जब उन्होंने गुरुदेव की भविष्यवाणी को पूर्ण करते हुए दूर-दराज के देशों में सत्य की मशाल को ऊँचाई पर थामे हुए मानो यह घोषित किया कि ज्ञान का प्रकाश पूरब से ही आता है।

निर्धनता और भिक्षावृत्ति के व्रत को अंगीकार करके विवेकानन्द ने उत्तरी और दक्षिणी भारत के अनेक स्थानों की यात्रा की। उन्होंने लगभग आठ वर्ष तक प्रव्रज्या का जीवन बिताया और जैसी कि सहज ही कल्पना की जा सकती है, इस दौरान उन्हें भाँति भाँति के अनुभव हुए। उन्होंने तमिलनाडु में काफी समय बिताया। उन्होंने ढोंगी साधुओं का दुष्प्रभाव भी निकट से देखा। उन्हें तमिल तथा तेलगूभाषी अंचल के ग्रामीण लोगों के जीवन के विषय में अन्तरंग ज्ञान हुआ। मद्रास में ही उन्हें अपने प्रारम्भिक प्रशंसक मिले।

वे जब बिहार में थे, उस समय वहाँ बड़ी सनसनी फैली हुई थी। इसका कारण यह था कि उस अंचल में आम के वृक्षों पर सिन्दूर तथा अनाज के दानों से सने हुए कीचड़ के पिण्ड चिपके हुए दीख पड़े थे। बिहार के अनेक जिलों में असंख्य आम के पेड़ इसी प्रकार चिह्नित मिले थे। इस देश की सरकार जो सिद्धान्तत: अपने आपको एक साम्राज्य की संरक्षक मानती थी, उनकी अद्भुत खुफिया पुलिस तुरन्त हरकत में आ गयी और बुद्धिमत्ता के साथ यह निष्कर्ष निकाल लिया गया कि आम्रवृक्षो पर इन चिह्नों का गदर के किंचित् पूर्व प्रसारित किये जानेवाली उन रहस्यमय चपातियों से कुछ विचित्र-सा मेल दिखता है। सशस्त्र तथा उतने ही भयंकर अशस्त्र अधिकारियों को सहसा अपने बीच पाकर ग्रामवासी घबरा गये और इन खतरनाक चिह्नों के उद्गम के विषय में किसी भी प्रकार की जानकारी से इन्कार करने लगे। इसके बाद सन्देह की सूई पूरे देश में भ्रमण करनेवाले साधुओं की ओर घूमी और कुछ समय तक बड़े पैमाने पर उनकी धर-पकड़ चलती रही। वैसे किसी साक्ष्य के अभाव में उन्हें छोड़ देना पड़ा था और वर्तमान कानूनों व अधिनियमों की सुविधा उन दिनों उपलब्ध न थी। बाद में पता चला कि आम के पेड़ों पर ये पिण्ड अच्छे फसल की आशा में शकुन-चिह्न के रूप में चिपकाये गये थे।

स्वामी विवेकानन्द उन दिनों बड़े सबेरे उठकर ग्रैण्ड ट्रंक रोड अथवा किसी ग्राम्य पथ पर तब तक चलते रहते थे, जब तक कि कोई उन्हें भिक्षा के लिए रोक नहीं लेता अथवा धूप की उष्णता उन्हें ठहरकर सड़क के किनारे लगे वृक्ष के नीचे विश्राम करने को मजबूर नहीं कर देती। एक दिन सुबह जब वे इसी प्रकार चले जा रहे थे, तो पीछे से किसी ने पुकारते हुए उन्हे रुकने को कहा। पीछे मुड़ने पर उन्होंने पूरी वर्दी में बेंत लहराते हुए एक दाढ़ीवाले पुलिस अधिकारी को देखा। और भी कई सिपाही उसके पीछे-पीछे चले आ रहे थे। निकट आकर उसने भारतीय पुलिस के अपने सर्वविदित नरम स्वर में पूछा कि वे कौन हैं। विवेकानन्द ने उत्तर दिया, "खाँ साहब, जैसा कि आप देख रहे हैं, मैं एक साधु हूँ।" थानेदार ने क्रोधपूर्वक गुर्राते हुए कहा, "सारे साधु बदमाश होते हैं।" चूँकि भारत के पुलिसवाले झूठ न बोलने के लिए विख्यात हैं, अत: ऐसे स्पष्ट तथ्य का कोई प्रतिवाद नहीं किया जा सकता था। पुलिस अधिकारी गरजा, "मेरे साथ चले आओ, तुम्हें अन्दर रखने की व्यवस्था करूँगा।" स्वामीजी ने मृदु स्वर में पूछा, "कितने दिनों के लिए?" वह बोला, "एक पखवारे के लिए भी हो सकता है या फिर एक महीने के लिए भी हो सकता है।" स्वामीजी उसके निकट गये और बड़े अनुनय-विनय के स्वर मे बोले, "खाँ साहब, बस केवल एक महीने के लिए? क्या आप मुझे छह महीनों के लिए या फिर कम-से-कम तीन या चार महीनों के लिए अन्दर नहीं कर सकेंगे?" पुलिस अधिकारी का चेहरा उतर गया और वह देखता ही रह गया। उसने शंकापूर्वक पूछा, "तुम एक महीने से अधिक जेल में क्यों रहना चाहते हो?" स्वामीजी ने फुसफुसाहट के स्वर में कहा, "जेल का जीवन इससे काफी अच्छा है। सुबह से शाम तक इस प्रकार भटकते रहने की तुलना में वहाँ का काम बड़ा आसान है। अभी तो मेरा भोजन भी अनिश्चित है और प्राय: मुझे भूखे ही रह जाना पड़ता है। जेल में हर रोज दो समय भोजन तो मिल ही जायगा। यदि आप कुछ महीनों के लिए मुझे बन्द कर दें, तो मैं आपका बड़ा शुक्रगुजार होऊँगा।" यह सब सुनकर खाँ साहब के चेहरे पर निराशा तथा बेरुखी के भाव उभर आये और उन्होंने अचानक स्वामीजी को तत्काल चले जाने का आदेश दिया।

पुलिस के साथ उनका दूसरा सामना कलकत्ते में ही हुआ था। स्वामीजी तथा उनके कुछ अन्य गुरुभाई कलकत्ते के निकट एक बस्ती में रहकर अपने स्वाध्याय और छोटे-मोटे समाज-सेवा के कार्यों में लगे हुए थे। एक दिन उनकी अपने परिवार से परिचित एक पुलिस अफसर से भेंट हुई। वे पुलिस के खुफिया विभाग में अधीक्षक के पद पर कार्यरत थे और उन्हें अपनी सेवाओं के लिए उपाधि तथा पदकों आदि से सम्मानित भी किया गया था। उन्होंने स्वामीजी के प्रति बड़ी आत्मीयता दिखायी और रात के भोजन के लिए अपने घर आमंत्रित किया। तदनुसार जब स्वामीजी उनके आवास पर पहुँचे, तो वहाँ कुछ और भी आगन्तुक उपस्थित थे। थोड़ी देर बाद वे लोग चले गये। भोजन की कोई व्यवस्था वहाँ देखने में नहीं आयी। उसके स्थान पर उनके मेजबान अन्य विषयों पर चर्चा करते रहे और सहसा अपने चेहरे पर रुखाई का भाव लाकर धीमे स्वर में बोल उठे, "तुम्हारे लिए अच्छा यही होगा कि मुझे सब कुछ खोलकर साफ-साफ बता दो। जान रखना कि झूठी कहानियों के द्वारा तुम मुझे बुद्धू नहीं बना सकते, क्योंकि मैं तुम्हारा सारा खेल जानता हूँ। तुम अपने गिरोह के साथ धार्मिकता का ढोंग करते हो, परन्तु मेरे पास प्रामाणिक सूचना है कि तुम लोग सरकार के विरुद्ध षड्यंत्रों में लगे हो।" स्वामीजी ने आश्चर्यचकित होकर नाराजगी से पूछा, "आपका मतलब क्या है? आप किन षड्यंत्रों की बात कह रहे हैं और हमारा उनके साथ क्या सम्बन्ध है?" पुलिस अधिकारी ने ठण्डे स्वर में कहा, "वही तो मैं जानना चाहता हूँ। मेरा विश्वास है कि यह कोई बड़ा जघन्य षड्यंत्र है और तुम्हीं इसके अगुआ हो। पूरी बात मुझे सही-सही बता दो, तो मैं तुम्हें सरकारी गवाह बनवा दूँगा।" स्वामीजी ने कहा, "यदि आपको सब कुछ मालूम ही है, तो फिर आप क्यों नहीं हमारे निवास पर आकर तलाशी लेने के बाद हमें गिरफ्तार कर लेते

हैं?'' इतना कहते हुए उन्होंने चुपचाप उठकर भीतर से दरवाजे पर सिटकनी चढ़ा दी। स्वामीजी एक सुगठित शरीरवाले कसरती व्यक्ति थे, जबकि पुलिस अफसर दुबला-पतला सीकिया पहलवान था। अब उनकी ओर उन्मुख होकर स्वामीजी ने कहा, "आपने धोखा देकर मुझे अपने घर बुला लिया है और मुझ पर तथा मेरे साथियों पर झूठे आरोप लगाये हैं। यही आपका धन्धा है और दूसरी तरफ मुझे अपमान को सह जाने की शिक्षा मिली है। यदि मैं एक अपराधी या षड्यंत्रकारी होता, तो सहायता के लिए किसी को पुकारने के पहले ही मैं आपकी गर्दन मरोड़कर रख देता और कोई मेरा कुछ भी नहीं कर पाता। पर जाने दीजिए मैं आपको ऐसे ही छोड़ देता हूँ।'' इतना कहकर स्वामीजी ने द्वार खोला और शंकाग्रस्त तथा आतंक से त्रस्त उन पुलिस अधिकारी को अवाक् छोड़कर बाहर निकल आये। उस व्यक्ति ने फिर कभी स्वामी विवेकानन्द या उनके साथियों को परेशान करने की जुर्रत नहीं की।

स्वामी विवेकानन्द ने अपना जो एक अन्य अनुभव मुझे बताया था, वह थोड़ा दुःखद-सा था। उन दिनों उन्होंने एक विशेष व्रत ले रखा था कि वे बिना किसी से भिक्षा माँगे या पीछे मुड़कर देखे, दिन भर अविराम चलते रहेंगे और अयाचित रूप से किसी के ठहराने पर ही ठहरेंगे तथा खिलाने पर ही खायेंगे। कभी कभी उन्हें एक-दो दिन निराहार ही रह जाना पड़ता था। एक दिन सूर्यास्त के समय वे किसी धनाढ्य व्यक्ति के अस्तबल के पास से होकर गुजर रहे थे। एक सईस सड़क पर खड़ा देख रहा था। स्वामीजी को दो दिनों से भोजन नहीं मिला था और वे बड़े ही दुर्बल तथा थके हुए दिख रहे थे। सईस ने उनका अभिवादन करके उनकी ओर देखते हुए कहा, "साधु बाबा, आज आपका कुछ खाना हुआ क्या?'' स्वामीजी ने उत्तर दिया, "नहीं, आज मैंने कुछ नहीं खाया है।'' तब सईस उन्हें अस्तबल में ले गया और उनके हाथ-पाँव धुलाने के बाद अपनी रोटियाँ तथा चटनी उनके समक्ष रख दीं। चटनी बड़ी तीखी थी, किन्तु विवेकानन्द को भ्रमण के दौरान तीखा खाने की आदत पड़ गयी थी, क्योंकि प्रायः मिर्च ही उनके खाने में रहती थी। भोजन के समय मैंने उन्हें बड़ा स्वाद लेते हुए मुट्ठी भर तीखी हरी मिर्च खाते देखा है। विवेकानन्द ने रोटी तथा चटनी खा ली, परन्तु उसके बाद ही उनके पेट में भयानक जलन होने लगी। तीव्र पीड़ा के मारे वे धरती पर लोट गये। सईस ने दोनों हाथों से अपना सिर पीट लिया और विलाप करते हुए बोला, "यह मैंने क्या किया, एक साधु को मार डाला!'' खाली पेट इतनी तीखी चटनी खा लेने के कारण ही उन्हें इतनी पीड़ा हुई थी। ठीक उसी समय सिर पर टोकरी लिए एक आदमी उधर से गुजर रहा था। सईस का रुदन सुनकर वह ठिठक गया। विवेकानन्द ने उससे पूछा कि टोकरी में क्या है। उसने बताया – इमली। विवेकानन्द ने कहा, "अहा, इसी की तो मुझे जरूरत थी।'' उन्होंने थोड़ी-सी इमली ली और उसे पानी में घोलकर पी गये। उसका आशानुरूप फल हुआ। इमली ने उनके पेट की जलन तथा पीड़ा को समाप्त कर दिया। थोड़ी देर विश्राम करने के बाद विवेकानन्द उठे और अपनी राह चल दिये।

हिमालय के दुर्गम अंचल में भी विवेकानन्द कुछ संकटपूर्ण साहसिक अनुभव हुए, परन्तु कुछ भी उन्हें विचलित नहीं कर सका और वे परम साहस तथा अथक ऊर्जा के साथ अनुशासन के कठोर रास्ते को पददलित करते हुए अग्रसर होते गये। उन्होंने जिस व्रत को अंगीकार किया था, वह दीर्घकालीन तितीक्षा और निरन्तर संयम, ध्यान तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों की अपेक्षा रखता था।

जब वे एक अकिंचन संन्यासी के रूप में बिना किसी मित्र के अमेरिका पहुँचे, तो उनके पास अपनी बौद्धिक तथा आध्यात्मिक सम्पदा, अदम्य साहस और अपने सोद्देश्य भारत-भ्रमण के दौरान अर्जित इच्छाशक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। वहाँ सुप्रसिद्ध तथा अत्यन्त प्रतिष्ठित उनके एक अपने ही देशवासी ने विवेकानन्द के बारे में मिथ्या आरोपों का प्रचार करते हुए लोगों की नजरों से उन्हें गिराने का प्रयास किया। अनेक कठिनाइयों के बावजूद विवेकानन्द को शिकागो धर्मसभा में भाग लेने का मार्ग निकल आया और वहीं पर उन्हें मान्यता प्राप्त हुई। इस स्मरणीय तथा ऐतिहासिक और साथ-ही-साथ अभूतपूर्व सम्मेलन में सम्भवतः वे ही सबसे कम आयु के थे। वे एक हिन्दू थे – इस तथ्य के अतिरिक्त उनके पास दूसरा कोई प्रमाणपत्र नहीं था। उनके गुरुदेव का नाम यूरोप तथा अमेरिका में किसी को ज्ञात न था। वे स्वयं भी प्रसिद्धि से कोसों दूर एक अज्ञात नवयुवक थे और उनकी विद्वत्ता, साधुता के लिए या एक जननायक के रूप में उन्हें अपने देश में भी कोई नहीं जानता था। ❖ (शेष आगामी अंक में) ❖

परम ज्ञान

एक निम्नतम अमीबा से लेकर महत्तम देवता में सर्वत्र वह निवास करता है और सतत घोषित करता है - 'सोऽह, सोऽहम्'। यदि सतत विद्यमान अनाहत नाद को हम समझ सकें, यह पाठ सीख लें, तो सम्पूर्ण सृष्टि का रहस्य खुल जाएगा, ज्ञातव्य कुछ भी नहीं रह जाएगा। अतः समस्त धर्म जिस सत्य की खोज में लगे हैं, वह हमें प्रत्यक्ष हो जाएगा और हम समझ जाएँगे कि भौतिक विज्ञान की ये सारी उपलब्धियाँ गौण हैं। केवल यही सच्चा ज्ञान है। — *स्वामी विवेकानन्द*

वाणी का वरदान

भैरवदत्त उपाध्याय

ईश्वर ने मनुष्य को वाणी का सर्वोत्तम वरदान दिया है। इसीलिए वह इतर जीवों से श्रेष्ठ है। साहित्य, संगीत, कला, सस्कृति और सभ्यता का विकास इस वाक्शक्ति का ही फल है। मानव का सम्पूर्ण व्यवहार वाणी से होता है। गूंगे का संसार पशुओं के ससार से बेहतर नहीं हो सकता। प्रभु ने अपने अत्यन्त प्रिय पुत्र मानव को जहाँ असीम, अपरिमित और स्वतत्र वाणी देकर परम अनुग्रह किया है, वहीं बुद्धि से उस पर नियन्त्रण स्थापित करने की शक्ति प्रदान करके उसे आत्मविनाश के मार्ग से बचा लेने का पक्षपात भी किया है।

मनुष्य विवेक का उपयोग करके वाक्-युद्धों के दुष्परिणामों से अस्पृष्ट और वाचिक हिंसा के भयानक पापों से मुक्त हो सकता है। संयत, अर्थगौरव से युक्त, परिमित, परिशुद्ध, परिष्कृत और सुसस्कृत वाणी मानव का अक्षय अलकार है। पण्डित और मूर्ख, शिष्ट और अशिष्ट, सभ्य और असभ्य में अन्तर वाणी से सुस्पष्ट होता है। सुसस्कृत वाणी मनुष्य का जितना हित करती है, उतना माता-पिता और बन्धु-बान्धव नहीं करते। हमारे कान कठोर, क्रूर और कटु वचन सुनने के अभ्यस्त नहीं हैं। क्रूर वचन श्रवण-द्वार से हृदय में प्रवेश करके सम्पूर्ण शरीर को पीड़ा पहुँचाते हैं। लोहे के तीर हृदय से निकल जाते हैं, किन्तु वाग्बाण जीवन भर नहीं निकलते। द्रौपदी के वाग्बाणों ने ही दुर्योधन के हृदय में प्रतिहिंसा की अग्नि प्रज्वलित कर महाभारत की जड़ें रोपी थीं। क्रूर तथा व्यंग्य वचनों से आज भी प्रतिदिन न जाने कितने महाभारत हुआ करते हैं। अतएव हमारी वाणी किसी को भड़काने, उत्तेजित करने, पीड़ित करने, छींटाकशी करने तथा व्यंग्य करनेवाली न हो। अनुद्वेग-कारिता वाणी का तप है।

हमारी वाणी निरवलेप हो। उसमें अहंकार की दुर्गन्ध नहीं होनी चाहिए। शीतलता, मधुरता और प्रियता वाणी के अपेक्षित गुण हैं। ऐसी वाणी से सभी प्रसन्न हो जाते हैं। "मधुर वचन है औषधी, कटुक वचन हैं तीर।' कोयल मीठे वचनों से ही तो जगत् को अपना बना लेती है; दूसरी ओर कौआ किसी का धन तो नहीं चुरा लेता, जो लोग उससे नाराज रहा करते हैं -

कागा काकौ धन हरै, कोयल काकूँ देय।
मीठो बचन सुनाय कै, जग अपनो करि लेय॥

महाभारत में यक्ष द्वारा पूछे गये प्रश्न के उत्तर में धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा था कि न बोल सकनेवाला गूँगा नहीं होता, अपितु गूँगा वह है, जो समय पर प्रिय बोलना नहीं जानता और फिर प्रिय वचनों को बोलने की ही तो बात है? उसमें दरिद्रता किस काम की? परन्तु स्मरणीय है कि केवल किसी को प्रसन्न करने के लिए ही असत्यतापूर्ण प्रिय कथन शास्त्र-निषिद्ध है - **'प्रियं च नानृतं ब्रूयात्।'** सत्य, वाणी की आत्मा है। असत्य महापाप है। लोग चाहते हैं कि हमारी वाणी मधुर, शीतल, प्रिय और सत्य होने के साथ ही हितकारी भी हो, परन्तु हितकारी वचन सर्वदा मीठे नहीं होते। शीत ज्वर की औषधि 'क्विनैन' मीठी नहीं होती, फिर हितकारी और प्रिय वचनों के वक्ता और श्रोता सुलभ कहाँ हैं? इन्हें बोलने में लोगों को भय और संकोच होता है। लोग उन्हें सुनने को भी तैयार नहीं होते। सत्य में कर्णमाधुर्य का प्रायः अभाव है। लोगों का स्वभाव भी विचित्र है। वे असत्य का विश्वास नहीं करते और सत्य कथन पर क्रुद्ध हो जाते हैं -

झूठ कहौं तो नहिं पतियावै, साँच कहौं तो मारन धावै॥

ऐसी विषम परिस्थिति में व्यावहारिक पत्र यह है कि प्रिय सत्य को ही कहें, अप्रिय सत्य को नहीं -

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यम् अप्रियम्॥

यदि हम अप्रिय सत्य के गोपन और प्रिय सत्य के कथन में असमर्थ हैं तो मौन साध लेना हितकर है -

मौनं सर्वार्थ साधनम्।

यही नहीं, जहाँ अपनी बात को सुननेवाला कोई न हो, वहाँ भी मौन धारण करना ही सर्वोत्तम है -

दर्दुराः यत्र वक्तारः तत्र मौनं ही साधनम्।

अमरत्व का पथ

पहले तो सब संकीर्ण धारणाओं का त्याग करो, प्रत्येक व्यक्ति में ईश्वर का दर्शन करो - देखो, वे सब हाथों से काम कर रहे हैं, सब पैरों से चल रहे हैं, सब मुखों से भोजन कर रहे हैं, प्रत्येक व्यक्ति में वास कर रहे हैं, सभी मनों के द्वारा वे मनन कर रहे हैं - वे स्वतःप्रमाण हैं - हमारे निज की अपेक्षा वे हमारे अधिक निकटवर्ती हैं। यही जानना धर्म है - यही विश्वास है; प्रभु हमको यह विश्वास दें। जब हम समस्त संसार में इस अखण्ड का अनुभव करेंगे, तब अमर हो जाएँगे।

— *स्वामी विवेकानन्द*

आचार्य रामानुज (३)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर मद्रास नगर की जनता ने उनसे हार्दिक अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी अपने युगधर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ करें। इसी के उत्तर में उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। उन्होंने वहाँ की स्थानीय आध्यात्मिक परम्परा से देशवासियों का परिचय कराने के लिए सद्य:प्रकाशित बँगला मासिक 'उद्बोधन' के लिए श्री रामानुजाचार्य के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों का भी इन प्रात:स्मरणीय महापुरुष के जीवन तथा भावधारा से परिचय कराने हेतु हम इसके हिन्दी अनुवाद का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

६. तिरुप्पान आलवार

हमने अब तक पूर्वाचार्यों का नाम-कीर्तन किया। वैष्णवगण मानते हैं कि इनमें से अधिकांश कलियुग के पूर्व तथा आरम्भिक काल में अवतीर्ण हुए थे। विशिष्टाद्वैतवाद श्रीमन्नारायण के मुखपद्म से निर्गत होकर उक्त गुरुपरम्परा के द्वारा हृदय को उद्भासित करते हुए क्रमश: कलियुग के मध्यकाल तक आ पहुँचा। हम जिसे ऐतिहासिक काल कहते हैं, जो मेरीतनय ईसा के जन्मकाल से आरम्भ हुआ है, इस दौरान भी विशिष्टाद्वैतवाद की धारा, कभी दृश्य तो कभी अदृश्य होकर, भक्तों का हृदय उद्भासित करते हुए अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होती रही। ईश्वर की इच्छाशक्ति से जिसका प्रादुर्भाव हुआ है, उसकी गति कभी कहीं भी थम नहीं सकती।

कार्तिके रोहिणीजातं श्रीपाणं निचुलापुरे।
श्रीवत्सांशं गायकेन्द्रं मुनिवाहनमाश्रये।।१२।।

– कार्तिक मास के रोहिणी नक्षत्र में निचुलापुर (ओरापुर) नामक स्थान में तिरुप्पान आलवार का जन्म हुआ। उनका एक अन्य नाम मुनिवाहन था। वे संगीतशास्त्र में विशेष निपुण तथा अच्छे गायक थे। श्रीहरि के श्रीवत्स[1] से उनका जन्म हुआ। मैं उनकी शरण लेता हूँ।

तिरुप्पान आलवार पैरिया अथवा चाण्डाल वंश में जन्मे थे। वे सर्वदा वीणा बजाते हुए उन्मत्त के समान श्रीहरि का गुणकीर्तन करते हुए जीवन-यापन करते थे। हरि-संकीर्तन में वे इतने मग्न हो जाते कि उनका बाह्यज्ञान तक लुप्त हो जाता। एक बार वे श्रीरंगनाथ के विशाल मन्दिर के सम्मुख स्थित कावेरी के तीर्थप्रदेश में एकाग्र मन से हरिगुण गाते हुए ऐसे भावविभोर हो गये कि उन्हें बाह्य जगत का बिल्कुल भी बोध न रहा। उसी समय श्रीरंगनाथ स्वामी के लोकसारंग मुनि नामक पुजारी श्रीविग्रह के अभिषेक हेतु नदी से जल लेकर श्रीमन्दिर की ओर लौट रहे थे। उन्होंने देखा कि एक चाण्डाल जाति का व्यक्ति रास्ते में बैठकर वीणा बजाते बजाते मानो निद्रित हो गया है। उन्होने तीन-चार बार उन्हें उच्च स्वर में पुकारा, परन्तु कोई उत्तर न पाकर आखिरकार उन्होंने दूर से ही एक पत्थर मारकर उन्हें चेताया। पत्थर के चोट से चेतना लौटने पर उन्होंने देखा कि वे श्रीरंगनाथजी के सेवक का मार्ग रोके हुए हैं। इस पर उन्होंने स्वयं को बारम्बार धिक्कारते हुए ब्राह्मण से अपने अपराध के लिये क्षमा माँगी और भय से काँपते हुए शीघ्रतापूर्वक वहाँ से हट गये।

इधर मुनि ने श्रीमन्दिर पहुँचकर देखा कि द्वार भीतर से बन्द है। उन्होंने बारी बारी से प्रत्येक सेवक का नाम पुकार कर द्वार खोलने को कहा, परन्तु भीतर कोई भी न था, अत: उत्तर कौन देता? श्रीरंगनाथ के समस्त सेवक वहीं एकत्र हुए। वे भी श्रीमन्दिर का द्वार बन्द देखकर विस्मित तथा भयभीत हुए। भीतर तो कोई भी नहीं है, फिर द्वार किसने बन्द किया? काफी सोच-विचार करने के बाद भी वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। प्रभु के स्नान का समय बीता जा रहा था। वे सभी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर खड़े रहे। मुनि ने सोचा कि सम्भव है उनसे कोई विशेष भूल हुई हो, जिसके कारण श्रीरंगनाथ स्वयं ही द्वार को बन्दकर उनका मन्दिर में प्रवेश पूर्णत: निषिद्ध कर दिया हो। वे प्रभु के समक्ष दोनों हाथ जोड़े अपने अपराध के लिये क्षमा माँगने लगे। उनके नेत्रों से अनुताप के अश्रु प्रवाहित होने लगे और वे बोले, "हे प्रभो, दास को बताइए कि उससे क्या अपराध हुआ है; मैं यथासाध्य उसे सुधारने का प्रयास करूँगा।" इस प्रकार काफी समय तक प्रार्थना करने के बाद मुनि ने सुना, मन्दिर के भीतर से मानो कोई कह रहा था, "मुनि, तुमने आज मुझे पत्थर फेंककर मारा है, अत: अब मैं तुम्हें अपने पास नहीं आने दूँगा।" इस पर मुनि बोले, "हे प्रभो, कब मैंने आपको पत्थर से मारा है?" भीतर से उत्तर मिला, "कावेरी तीर्थ में जो महापुरुष हाथ में वीणा लिये मेरी नाम-संकीर्तन कर रहे थे, वे मेरे द्वितीय विग्रह हैं। यदि तुम उन्हें कन्धे पर चढ़ाकर मेरे मन्दिर की प्रदक्षिणा करो, तभी मैं मन्दिर का द्वार खोलूँगा, अन्यथा नहीं।" यह अशरीरी वाणी सुनते ही मुनि उन्मत्त के समान कावेरी तीर्थ की ओर दौड़ पड़े। वहाँ तिरुप्पान आलवार को देखकर वे भक्तिपूर्ण हृदय से हाथ जोड़े उन्हीं की ओर दौड़े। तिरुप्पान भय से दूर भागते हुए हाथ जोड़कर अनुनय करते हुए ब्राह्मण से बोले, " हे प्रभो, मै अति हीन चाण्डाल हूँ। सचमुच मुझसे

१. भृगु के द्वारा विष्णु के वक्ष पर लात मारे जाने का चिह्न

अपराध हुआ है, अत: दूर से ही पत्थर आदि के द्वारा आप मुझे सजा दें। इस चाण्डाल के स्पर्श से अपने पवित्र शरीर को आप दूषित न करें।'' उनका वाक्य समाप्त होते-न-होते मुनि ने आकर शीघ्रतापूर्वक उन्हें उठाकर अपने कन्धे पर चढ़ा लिया और उसी अवस्था में श्रीरंगनाथ के सात दीवारों से युक्त सम्पूर्ण मन्दिर की परिक्रमा की। तभी से तिरुप्पान आलवार का नाम मुनिवाहन हुआ।

७. तिरुमंगै आलवार और उनके द्वारा श्रीरंगनाथ के मन्दिर की स्थापना

कीर्तिके कृत्तिकाजातं चतुष्कशिखिमणिम्।
षट्प्रबन्ध कृतं शार्ङ्गमूर्ति कलियमाश्रये ।।१३।।

– कार्तिक मास के कृत्तिका नक्षत्र में जिन कालीमय (तिरुमंगै) नामक महापुरुष ने श्रीविष्णु के शार्ङ्ग धनुष के अंश से जन्म लिया, जो चार सिद्ध पुरुषों के चूड़ामणि स्वरूप थे, जिन्होंने छह प्रबन्ध-ग्रन्थों की रचना की, मैं उनकी शरण लेता हूँ।

ईसा की आठवीं शताब्दी में जन्मे तिरुमंगै एक परम भक्त थे। युवावस्था से ही तीर्थ-पर्यटन करते हुए मन्दिरों में देवी-देवताओं के दर्शन करना उन्हें बड़ा प्रिय लगता था। वे स्वाभाविक प्रतिभा से सम्पन्न थे। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि उन दिनों उनके समान अच्छा कवि दूसरा कोई नहीं था। तीर्थ-पर्यटन के दौरान चार सिद्ध पुरुषों ने उनकी महिमा पर मुग्ध होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया और तभी से उनके अनुचर होकर उनके साथ विभिन्न देशों का भ्रमण करते रहे। प्रथम शिष्य का नाम 'तोला वड्क्कन' अर्थात् तर्कशिरोमणि था। तर्क में कोई उन्हें परास्त नहीं कर पाता था और इसीलिये उन्हें यह नाम मिला था। दूसरे शिष्य का नाम 'तलुधुवन' अर्थात् द्वारोद्घाटक था। वे चाभी की सहायता के बिना ही केवल फूँक मारकर हर प्रकार के ताले खोल देते थे, इसी कारण उनका ऐसा नाम पड़ा था। तीसरे शिष्य का नाम था 'निलालै मिठोप्पन' अर्थात् छायापकड़ था। ये जिसकी भी छाया को पॉव से स्पर्श करते, वह वहीं अचल हो जाता था। इसीलिए उनका ऐसा नाम हुआ था। चौथे शिष्य का नाम 'नीरमेल नड्प्पन' अर्थात् जलोपरिचर था। ये स्थल के समान ही जल के ऊपर भी भ्रमण कर सकते थे, इसी कारण उन्हें इस नाम से सम्बोधित करते थे।

इन चार शिष्यों के साथ विभिन्न तीर्थों का दर्शन करने के बाद तिरुमंगै कावेरी की दो शाखाओं के बीच स्थित श्रीरंगनाथ के मन्दिर में आ पहुँचे। उस समय वह छोटा-सा मन्दिर भग्नप्राय तथा चमगादड़ों का निवास स्थान हो रहा था। पुजारी सायंकाल के समय एक बार आकर श्रीविग्रह को थोड़े फूल तथा जल आदि चढ़ाकर शृंगाल-भेड़ियों के भय से यथाशीघ्र लौट आते थे। वह स्थान जंगल तथा झुरमुटों से परिपूर्ण था। श्रीरंगनाथ की यह अवस्था उनके मन में उनका मन्दिर बनवाने की प्रबल इच्छा जाग उठी। उनके चित्त में यही चिन्ता अधिकार जमा बैठी कि श्रीमन्दिर का निर्माण कैसे हो? वे स्वयं अकिंचन थे और निश्चित नहीं कर पाये कि इस कार्य के लिये धन कहाँ से एकत्र होगा। बाद में उन्होंने चारों शिष्यों के साथ परामर्श करके संकल्प किया कि वे देश देश में जाकर धनिकों से भिक्षा माँगकर अर्थसंग्रह करेंगे। वे जहाँ भी किसी धनी व्यक्ति का नाम सुनते उसी के पास पहुँचकर अपना अभिप्राय व्यक्त करके धन के लिये याचना करते। परन्तु अर्थासक्त धनिक-मण्डली में से किसी ने उन्हें एक कौड़ी भी प्रदान नहीं किया, बल्कि उल्टे उन्हें चोर आदि की संज्ञा देकर वे अपने क्षुद्र तथा नास्तिक हृदय का ही परिचय देते रहे।

परम भक्त तिरुमंगै धनिकों के निन्दावाद से जरा भी क्षुब्ध नहीं हुए। परन्तु जगत्पिता प्राय: सेवाशून्य होकर शृंगाल-भेड़ियों आपरिवृत वन के भीतर अपने सन्तानों से विच्छिन्न होकर एक किनारे इतनी बुरी अवस्था में पड़े हुए हैं, यह चिन्ता तीर के समान उनके हृदय में चुभकर उन्हें अतिशय पीड़ित करने लगी। जैसे नरम मिट्टी के बर्तन अग्नि के सम्पर्क में आकर कठोर हो जाता है, वैसे ही उनका स्वभाव से ही कोमल हृदय क्रोधाग्नि में दग्ध होकर वज्र के समान कठोर हो गया। वे अब और स्थित न रह सके तथा अपने चारों शिष्यों को सम्बोधित कर कहने लगे, ''वत्सगण! धनिकों की भगवद्भक्ति तो तुमने देख ली। वे चिरकाल ही नास्तिक और पाखण्डी बने रहेंगे। अब क्या करना उचित है? श्रीरंगनाथ जी को इस प्रकार दुरवस्था में रखकर इन पाखण्डियों के पाँव चाटना अच्छा है या फिर सृष्टि-स्थिति-पालन के कारण निखिल जगत् को शरण देनेवाले ईश्वर का अभूतपूर्व, अद्वितीय तथा विराट् मन्दिर बनवाकर इन पाखण्डियों को पददलित करना?'' शिष्यों ने कहा,''पाखण्डियों की सेवा की अपेक्षा भगवत्सेवा सर्वाधिक उचित है।'' यह सुनकर गुरु ने कहा, ''तो फिर तैयार हो जाओ। आज से ऐसा प्रयत्न करो, जिससे इन निष्ठुरहृदय, अर्थलोभी धनिकों का सारा धन श्री मन्दिर के निर्माण में व्यय हो सके। निष्ठुर धनिकगण दूसरों के मुख से अन्नग्रास छीनकर अपने कोषों की परिपुष्टि में लगे हैं। निर्धन लोग अन्न के अभाव में बड़े कष्टपूर्वक दिन बिता रहे हैं। आओ, हम वह धन बलपूर्वक छीनकर श्री मन्दिर के निर्माण तथा निर्धनों के पालन में लगाएँ।'' शिष्यों ने कहा, ''प्रभु का जो आदेश होगा, हम वही करने को प्रस्तुत हैं।''

तोला वड्क्कन बोले, ''हे प्रभो, तर्क में कोई भी मुझे परास्त करने में समर्थ नहीं है। जब मैं धनिकों तथा उनके पार्षदों को अपने तर्कजाल में फँसा उन्हें सब कुछ विस्मृत करा दूँगा, उस समय आप अनायास ही अपने दल-बल के साथ उनका सम्पूर्ण धन-रत्न लूट सकेंगे।''

तलुधुवन ने कहा, "हे प्रभो, द्वार चाहे जितने भी अच्छी तरह बन्द हों, मैं फूँक मारकर उसे खोल सकता हूँ। धनिकों का कोषद्वार मेरे लिये सदा ही उन्मुक्त है। मेरी सहायता से आप जितने भी रत्न संग्रह करने में समर्थ होंगे।"

निलालै मिठीप्पन ने कहा, "हे प्रभो, मैं जिसकी भी छाया को अपने पाँव के द्वारा स्पर्श करूँगा, वह चलने-फिरने में असमर्थ हो जायेगा। अत: मेरी सहायता से आज से धनवान पथिकों का सारा धन आपका हुआ।"

नीरमेल नड़प्पन ने कहा, "हे प्रभो, खाइयों से घिरी हुई राजपुरी मेरे लिये सर्वदा उन्मुक्त है, क्योंकि मैं अनायास ही पानी के ऊपर चल सकता हूँ। अत: आज से राजाओं का सारा धन आपका हुआ।"

तिरुमंगै अपने शिष्यों की इस अद्भुत शक्ति की बात सुनकर अतीव हर्षित हुए। वे तुरन्त एक विशाल दस्युदल के सरदार हो गये और प्रतिदिन अपने चारों शिष्यों की सहायता से अपार धनराशि लाकर द्वीप के किसी गुप्त स्थान में संचित करने लगे।

इसके बाद उन्होंने विपुल धन व्यय करके देश-विदेश से सर्वश्रेष्ठ कारीगरों को बुलाकर श्री मन्दिर की नींव रखी। एक शुभ दिन मन्दिर-निर्माण का कार्य आरम्भ हुआ।

दो वर्ष में श्री गर्भगृह तथा प्रथम प्राचीर से वेष्टित, अत्युच्च गोपुर से युक्त अन्त:पुर का निर्माण पूरा हुआ। सहस्रों कारीगरों द्वारा निरन्तर परिश्रम करके अन्त:पुरी का निर्माण हो जाने के बाद प्रथम बहि:पुरी का निर्माण आरम्भ हुआ। चार वर्ष निरन्तर परिश्रम के बाद प्रथम बहि:पुरी बनी। इसी प्रकार छह वर्ष में द्वितीय, आठ वर्ष में तृतीय, दस वर्ष में चतुर्थ, बारह वर्ष में पंचम और अट्ठारह वर्ष में षष्ठ बहि:पुरी निर्मित हुई। इसके लिये लाखों कारीगरों को निरन्तर परिश्रम करना पड़ा था। इस प्रकार पूरा मन्दिर बनकर तैयार होते कुल मिलाकर साठ वर्ष बीत चुके थे। तिरुमंगै ने उस समय अपनी आयु के अस्सीवें वर्ष में प्रवेश किया था। उनके चारों प्रिय शिष्य उनसे दो-एक वर्ष ही छोटे थे।

अन्त:पुरी निर्मित हो जाने के बाद आसपास के राजागण भी अपने-आप धन तथा कारीगर भेजकर तिरुमंगै की सहायता करने लगे। क्योंकि प्रथमत: तो तिरुमंगै के मन्दिर-निर्माण की प्रणाली देखकर सबको विश्वास हो गया कि वे दुष्ट नही, बल्कि एक सच्चे भक्त हैं; और द्वितीयत: वे हजार से भी अधिक दस्युओं के सरदार थे। उनके प्रताप से राजागण भी काँपते थे। आर्थिक सहायता न करने पर हो सकता है कि तिरुमंगै किसी दिन आकर सब कुछ लूट ले जाय – इसी भय से अनेक लोग उन्हें स्वेच्छापूर्वक धन-जन से सहायता करने लगे। कारीगरों को वे यथायोग्य वेतन देकर सन्तुष्ट रखते थे। उनका यश व प्रताप राजाधिराज के समान चारों दिशाओ में फैल गया। वास्तव में वे अपने समय के एकछत्री राजा थे। बाकी राजागण उनके करदाता तथा मित्रों के समान थे। उनकी मान-यश की सीमा न थी, परन्तु उनका आचार-व्यवहार एक सामान्य भिक्षुक के समान था। दिन के अन्त में केवल एक बार भिक्षालब्ध अन्न को स्वयंपाक के बाद ग्रहण करके वे परम सन्तोष का अनुभव करते थे। उनके समान इन्द्रियजित् व्यक्ति उस समय सम्भवत: और कोई नहीं था। भगवत्प्रेम से उनके नेत्र अश्रु विसर्जन करते हुए वक्षस्थल को भिगा डालते थे। उनके शासनकाल में किसी को निर्धनता का कष्ट नहीं उठाना पड़ा, केवल धनी लोग ही उनसे सर्वदा शंकित रहा करते थे। सप्त प्राचीरों से घिरी श्रेष्ठ पुरी का निर्माण पूरा हो गया। तिरुमंगै ने कारीगरों को यथायोग्य पारिश्रमिक देकर सन्तुष्ट किया। हाथ में एक कौड़ी तक नहीं बची थी। इस बीच और भी कुछ लोग आकर धन माँगने लगे। ये उनके सहकारी दस्युगण थे। उनकी संख्या एक हजार से कम न थी; उनके लिये क्या किया जाय, यह वे निश्चित नहीं कर सके। बाद में सहसा उठकर उन्होंने नीरमेल नड़प्पन को बुलाकर उनके कान में कुछ कहा। उक्त शिष्य ने कुछ कहे बिना कावेरी की उत्तरी शाखा में एक बृहत् पोत मँगवाया। पुरी निर्माण के समय इसी पोत मे दूरस्थित पर्वत से बड़े बड़े शिलाखण्ड लाये गये थे। पोत आ जाने पर नड़प्पन उसमें प्रविष्ट हुए और दो घण्टे बाद उसमें से निकलकर अपने गुरुदेव के पास लौट आए। दस्युओं ने इसी बीच तिरुमंगै को अकिंचन मानकर उन्हें मार डालने की योजना बना ली थी। वे लोग अपने संकल्प को कार्यरूप में परिणत करने की तैयारी कर ही रहे थे कि उसी समय नीरमेल नड़प्पन वहाँ आ पहुँचे और समवेत लोगों से कहने लगे, "भाइया, कावेरी की उत्तरी शाखा के पार हमारे स्वामी का बहुत-सा गुप्त धन है; आओ हम सभी वहाँ जाकर सारा धन बाँट लें, पोत तैयार है। मैं तुम लोगों के साथ जाकर समुदय रत्न बाहर निकाल दूँगा। तुम लोग यथेच्छा बँटवारा कर लेना। तुम लोग जो भी दोगे मैं उतना ही लूँगा। साठ वर्षों से हम देश को लूट रहे हैं। अब लूटने को और कुछ नही बचा है। अब जो समस्त रत्न बचे हैं, उन्हें ले आओ और हम सुखपूर्वक दिन बिताएँगे।" यह सुनकर सभी अतिशय आनन्दित हुए और तिरुमंगै को मारने के अपने गुरु-गम्भीर संकल्प को छोड़कर चुपचाप नड़प्पन के अनुगामी हुए।

सभी नौका में बैठ गए। वर्षा का मौसम था। गहरी कावेरी नदी अपने शरीर को आधे कोस से भी अधिक दूरी तक फैलाए भीषण गर्जना के साथ उफनते हुए तीव्र वेग से प्रवाहित

हो रही थी । सन्ध्या हो चुकी थी । आकाश मेघावृत्त होने के कारण सायंकाल ही रात के समान प्रतीत होने लगा । पोत अब कावेरी के मध्य भाग तक जा पहुँचा था । तिरुमंगै अपने तीन शिष्यों के साथ तट पर खड़े पोत की ओर देख रहे थे । वह अब अन्धकार के कारण अस्पष्ट-सा दिख रहा था । सहसा नदी के बीच से सैकड़ों लोगों का एक भीषण आर्तनाद उठा । बाद में सब शान्त हो गया । नौका फिर देखने में नहीं आई । उस विपुल तरंगाकुल भीषण गर्जनकारी कावेरी के वक्ष पर अब और कुछ दिखाई नहीं दे रहा था । थोड़ी देर बाद धीर-स्थिर पदविक्षेप के साथ जल के ऊपर से होकर चलते हुए एक व्यक्ति तिरुमंगै की ओर अग्रसर होने लगा । क्रमश: वे भक्तवीर दस्युपति के चरणों में आकर अवनत हुए । ये उनके चतुर्थ शिष्य नीरमेल नड़प्पन थे ।

तिरुमंगै ने दीर्घ नि:श्वास छोड़ते हुए कहा, "उठो वत्स, श्री रंगनाथजी ने अपने सन्तानों को निश्चय ही अपनी गोद में ग्रहण किया है, इस विषय में चिन्तित मत होना । ये सभी इहलोक त्यागकर वैकुण्ठधाम चले गये हैं; यही अच्छा है या फिर जीवित रहकर दस्युवृत्ति करते हुए जीवन-यापन करना? आओ, हम लोग अपने जीवन का अवशिष्ट काल श्री रंगनाथजी की सेवा में लगा दें । जिस कार्य के लिये मुझे दस्युवृत्ति स्वीकार करना पड़ा था, वह सम्पन्न हो चुका है । अब हमारे लिये भगवत्सेवा के अतिरिक्त अन्य कोई भी कर्तव्य बाकी नहीं रहा है ।"

अपने चारों प्रिय शिष्यों के साथ जीवन का शेष भाग श्री रंगनाथजी की सेवा में व्यतीत करने के बाद तिरुमंगै ने यथासमय 'तद्विष्णो: परमं पदम्' का आश्रय लिया ।

कावेरी की उत्तरी शाखा में एक हजार दस्युओं का विनाश हुआ था, अत: तभी से वह 'कोलिड़म' अर्थात् हत्यास्थल के नाम से विख्यात है ।

कहते हैं कि एक दिन तिरुमंगै किसी राजभवन को लूटने जाकर राजा के देवालय में प्रविष्ट हुए । वहाँ श्रीमन्नारायण का विग्रह प्रतिष्ठित था । हीरे आदि बहुमूल्य रत्नों द्वारा श्री विग्रह के सज्जित होने के कारण तिरुमंगै ने उनके समस्त अलंकार उतार लिये । उन्होंने सभी आभूषण ले लिये, परन्तु हीरकजड़ित एक अंगूठी उनके चम्पाकली के समान उँगली में इतनी दृढ़तापूर्वक स्थित थी कि उसे उतारने का सारा प्रयास व्यर्थ सिद्ध हुआ । तब उन्होंने अपने दाँतों की सहायता से उसे उतारने का प्रयास किया । दाँतों से भगवान की उँगली का स्पर्श होते ही उनमें दिव्य ज्ञान का उदय हुआ और वे प्रेमोन्मत्त होकर एक सहस्र श्लोकों के साथ उनका स्तवन करने लगे । वह स्तोत्र आज भी तिरुमोली अर्थात् मधुर स्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है । ❖ (क्रमश:) ❖

रामकृष्ण मिशन द्वारा परिचालित पुनर्वास-कार्य

(१) आन्ध्रप्रदेश में तूफान पुनर्वास - पूर्वी गोदावरी जिले के पल्लवरिपालेम गाँव में वृद्धा गौतमी नदी पर मिशन द्वारा बनाये जा रहे 'विवेकानन्द-सेतु' का निर्माण लगभग पूरा हो चुका है । इसके अतिरिक्त सेतु के दोनों ओर से पहुँच-मार्ग भी बन चुका है और मुख्य भूमि की ओर से सेतु के प्रवेश-मार्ग पर स्वामीजी की साढ़े नौ फीट की एक कांस्य प्रतिमा लगायी गयी । प्रतिमा के पीछे बच्चों के लिए एक पार्क का भी विकास किया जा रहा है ।

(२) गुजरात में तूफान पुनर्वास - पोरबन्दर जिले के वेदाला गाँव में यह योजना चलायी जा रही है । इसके अन्तर्गत २० मकानों का निर्माण पूरा हो जाने के बाद अब सामुदायिक भवन तथा प्रार्थना-कक्ष के निर्माण के कार्य आरम्भ किया गया है ।

(३) पश्चिमी बंगाल में बाढ़ से पुनर्वास - नरेन्द्रपुर आश्रम के माध्यम से मुर्शिदाबाद जिले के ८ गाँवों में यह परियोजना चलाई जा रही है । प्रस्तावित ६७६ मकानों में से ६३१ का निर्माण हो चुका है और प्रस्तावित ११०० सस्ते शौचालयों में से ५७० का निर्माण हो चुका है । इसके अतिरिक्त ३१ में से १० हैण्ड-पम्प भी लगाये जा चुके हैं ।

(४) पश्चिमी बंगाल में संकटग्रस्तों का पुनर्वास - हमारे रामहरिपुर के केन्द्र ने 'अपना मकान स्वयं बनाओ' परियोजना के अन्तर्गत बाँकुड़ा जिले के कपिस्ता, सहरजोरा तथा खरारी अंचलों के १९ गाँवों में रहनेवाले ६८ निर्धन परिवारों को मकान बनाने के लिए खपरैल तथा बाँस उपलब्ध कराये गये ।

जीना सीखो (३)

स्वामी जगदात्मानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जगदात्मानन्द जी ने युवकों को जीवन-निर्माण में सहायता करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी थी, जो लोकप्रियता के कीर्तिमान स्थापित कर रही है । हाल ही में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है । नयी पीढ़ी के मार्गदर्शन में इसकी उपयोगिता नि:सन्दिग्ध है । दिल्ली के डॉ. कृष्ण मुरारी ने 'विवेक-ज्योति' के लिए इसका सुललित हिन्दी अनुवाद किया है । – सं.)

एक संन्यासी का अनुभव

चिकित्सा-विज्ञान पढ़े हुए एक संन्यासी ने मुझे एक बार बताया था, "आयुर्विज्ञान की एम. बी. बी. एस. परीक्षा पास करते ही मुझे कॉलेज में औषधि-विज्ञान का प्रशिक्षक नियुक्त कर दिया गया । तीसरी श्रेणी के छात्रों को रोगी-परीक्षण सिखाना भी मेरे कार्यों में से एक था । १३ छात्रों को मुझे ६ सप्ताह का प्रशिक्षण देना था । बाद में यह अवधि १२ सप्ताह की कर दी गई । इस दौरान मैं उन्हें अस्पताल के वार्डों में ले जाता और उनसे रोगियों की जाँच करवाकर उन्हें रोग-निदान की प्रक्रिया समझाता । सप्ताह में ४ दिन २-३ घण्टे मैं यही करता । इन्हीं दिनों मैं श्रद्धा व शक्ति विषयक स्वामी विवेकानन्द के उपदेश पढ़ रहा था और अपने में तीव्र उत्साह तथा आत्मविश्वास का अनुभव कर रहा था । यद्यपि मैंने छात्रों को उनकी आन्तरिक शक्ति व सम्भावनाओं के विषय में कोई शिक्षा नहीं दी, मुझे मन में लगता था सभी अपने कार्य को अधिक उत्तम बना सकते हैं । ये १३ छात्र वास्तव में पिछली परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हुए थे ।

"सभी कम प्रतिभावान छात्रों की तरह इनमें से अधिकांश समय पर नहीं आते थे, रोगी का इतिहास लिखने जैसे कार्यों को ठीक से नहीं करते थे । तो भी मैं बड़े भाई के समान उन्हें क्रमश: प्रोत्साहित करता रहा, उनके साथ सप्रेम तथा सच्चे हृदय के साथ कार्य करता रहा । यदि कोई छात्र नहीं आता, तो मैं उसकी ओर अधिक ध्यान देता, ताकि वह अपने छूटे पाठ को पूरा कर सके । इस प्रकार प्रत्येक छात्र में मैं व्यक्तिगत रुचि लेता था । इसके फलस्वरूप सभी छात्र अगली तथा उसके बाद की सभी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते गये, उनमें से एक को प्रथम श्रेणी भी मिली थी । स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा तथा अनजाने में ही मेरे द्वारा हर छात्र में आत्मश्रद्धा जगाने के कारण ही यह सफलता प्राप्त हुई ।"

यहाँ एक महत्वपूर्ण बात यह है कि अध्यापक को, न केवल स्वयं पर, अपितु पिछड़े हुए छात्रों की क्षमता में भी पूर्ण विश्वास था । अनेक अध्यापक बुद्धिमान हो सकते हैं, पर यदि वे अपने छात्रों को बुद्धू, बेकार तथा निर्बुद्धि समझें और भले ही वे अपना यह मत छात्रों के समक्ष व्यक्त न करें, तथापि उनका ऐसा मनोभाव छात्रों पर बुरा प्रभाव डालता है ।

जीवन में पूर्णता

प्रख्यात अमेरिकी मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स कहते हैं, "हम जो हो सकते हैं, अपनी इस अपेक्षा की तुलना में हमारा कार्यस्तर कहीं पीछे रह जाता है । सच्चाई तो यह है कि हम अपनी शारीरिक तथा मानसिक क्षमताओं के एक छोटे-से अंश का ही उपयोग कर पाते हैं । तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपनी असीम सम्भावित क्षमता के एक छोटे-से दायरे में ही निवास करता है । यद्यपि उसमें महाशक्ति निहित है, परन्तु उनका उपयोग करने की इच्छा के अभाव में वह सारे जीवन अयोग्य ही बना रहता है ।"

कल्पना करो कि एक बड़े हरे-भरे मैदान में एक गाय को रस्सी से बाँधकर रखा गया है । वह उतनी ही दूर तक की घास खा सकती है, जहाँ तक रस्सी पहुँचती है । यदि वह खूँटे के चारों ओर घूमे, तो रस्सी छोटी होती जाएगी । मनोवैज्ञानिक के कथन का तात्पर्य यह है कि लोग अपनी सम्भावनाओं तथा क्षमताओं को जाने बिना ही अपनी सीमाएँ निर्धारित करते हैं और उसी के भीतर कर्म करते रहते हैं ।

हमारा शरीर कितना विचित्र यंत्र है! हमारे भीतर कितनी अद्भुत शक्तियाँ भरी पड़ी हैं! परन्तु हम अपने हाथों से ही अपनी आँखों को ढँककर अँधेरे की शिकायत करते रहते हैं ।

जीवन में हमारी कोई आकांक्षा या निश्चित ध्येय नही है । हमें अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं है । यथानियम कर्म में न लगकर, हम केवल गप्पबाजी में कालयापन करना चाहते हैं । ऐसी हालत में हम भला सफलता कैसे पा सकते हैं?

एक वयोवृद्ध सन्त ने मानो अपने जीवन की समीक्षा करते हुए कहा था, "जीवन में मैंने कठोर संघर्ष किया है ।" तात्पर्य यह कि लगन के साथ सतत चेष्टा, अथक परिश्रम और अदम्य साहस के साथ कष्टों तथा कठिनाइयों का सामना – यही जीवन की सच्चाई है । हमारे जीवन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि हम अपने जीवन का प्रतिक्षण, प्रतिघण्टा और प्रतिदिन कैसे बिताते हैं । जो लोग सदैव ही निर्णय लेने से कतराते रहे और कोई कदम उठाने से हिचकिचाते रहे, वे क्या अपने जीवन के अन्त में नहीं कहेंगे?

– "ओह, मेरा समय बेकार की बातों में चला गया ।"

– "मैं सभी उपयोगी वस्तुओं को छोड़कर केवल मृगतृष्णा के पीछे ही दौड़ता रहा।"

– "मै अपने मित्रों की आशाओं पर खरा नहीं उतर सका और मैंने अपने विरोधियों को हँसने का मौका दिया।"

– "वैसे मैं असफल नहीं रहा, तथापि मेरी उपलब्धियाँ सामान्य हैं।"

क्या आप भी आगे चलकर ऐसे ही शब्दों में अपने जीवन का विवरण देना पसन्द करेंगे?

आपके जीवन में विशेष उद्देश्य न होने के कई कारण हो सकते हैं – सम्भव है आपको अपनी अभिरुचियों को पहचानने का ठीक प्रशिक्षण न मिला हो; या फिर बीमारी तथा शारीरिक दुर्बलता आपके लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक सिद्ध हो रही हों; अथवा आप स्वभाव से ही अस्थिर तथा चंचल मनवाले हों और इस कारण उचित निष्ठा तथा एकाग्रता के बिना ही लक्ष्य की ओर बढ़ने का प्रयास कर रहे हों; या फिर शायद आपको अपने काम में रुचि न हो या उसके लिये आवश्यक योग्यता न हो; हो सकता है कि अपनी योग्यता तथा क्षमता दिखाने का अवसर ही न मिला हो; या फिर जीवन के अनेक क्षेत्रों में मिली हुई असफलताओं ने आपको निराशावादी बना दिया हो; अथवा अपनी उपलब्धियों के अभाव का सारा दोष आप भाग्य, विधि, ग्रह-नक्षत्रों या प्रारब्ध पर मढ़ दिया हो।

अपने जीवन-मार्ग का विश्लेषण कीजिए। और सावधानीपूर्वक विचार करके अपना जीवन-लक्ष्य निर्धारित कीजिए, क्योंकि लक्ष्यविहीन जीवन बिना पतवार की नाव के समान इधर-उधर भटकता रहता है।

जीवन-लक्ष्य

अपनी भीतर छिपी हुई सम्भावनाओं क्षमताओं को क्रियाशील करने के लिये अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित कीजिए। मोक्ष की प्राप्ति को ही लक्ष्य बनाना आवश्यक नहीं है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का एक विशेष व स्पष्ट लक्ष्य होना चाहिए। किसी क्षणिक इच्छा को लक्ष्य नहीं कहा जा सकता है और न ही अपने निर्धारित कार्य में सफलता की इच्छा रखना ही पर्याप्त है। उसे समय पर पूरा करने के लिये ठीक पद्धति भी अपनानी होगी। सुचारु योजना के अभाव में मूल्यवान मानसिक शक्ति तथा समय का अपव्यय होता है।

सम्भव है कि आपने श्रोताओं के समक्ष एक व्याख्यान देने की सोची हो, कोई व्यापार करने की योजना बनायी हो या फिर एक कलाकार या लेखक बनने की सोची हो। या फिर अपने व्यवसाय में कुशलता लाकर आय बढ़ाने की इच्छा की हो। चाहे जो भी हो, आपके लिए अपने लक्ष्य या उद्देश्य को स्पष्ट रूप से समझना जरूरी है। वही विशेष इच्छा या विचार स्वयं को कार्यरूप में परिणत कराने को प्रेरित करता है।

अनिश्चितता तथा असमंजस को जीतने के लिये स्वयं से पूछिए कि आपको क्या चाहिये? तब आपके लिए अपने जीवन का प्रमुख उद्देश्य स्पष्ट हो उठेगा। और तब आपका मन उसकी प्राप्ति में अपनी सारी शक्ति लगा देगा।

तीव्र इच्छा ही प्रेरणा-शक्ति है

जर्मनी के फ्रैंकफुर्त नगर में एक बड़ा पुस्तकालय है। वहाँ पुस्तकों के बीच एक ऋषितुल्य व्यक्ति गहन चिन्तन में बैठा है। यह ३०,००० पुस्तकों का उनका निजी संग्रह है। अधिकांश पुस्तकें भाषाशास्त्र की हैं। वे एक, दो या पचीस-पचास नहीं, बल्कि लगभग ३०० भाषाएँ जानते हैं। वे उन भाषाओं में केवल लिख-पढ़ ही नहीं, बल्कि स्पष्ट उच्चारण के साथ बोल भी सकते हैं। यह कोई कहानी नहीं, वरन् सत्य है। उन सज्जन का नाम है डॉ. हेराल्ड स्रुज है। वे न केवल बहुभाषी, अपितु अपनी भाषा के एक विशिष्ट कवि भी हैं।

जब उनसे पूछा गया कि उन्होंने इतनी भाषाएँ कैसे सीखी, तो उन्होंने मुस्कुराते हुए बस इतना ही कहा, "किसी भाषा में निपुण होने के लिये तीन चीजों की आवश्यकता है – पहली, सीखने तथा जानने की तीव्र इच्छा; दूसरी, सीखने में अदम्य निष्ठा तथा अध्यवसाय; और तीसरी चीज है, सुअवसर की प्राप्ति। सीखने की तीव्र इच्छा तो मुझमें बचपन से ही थी। बाद में अवसर मिलने पर मैंने उत्साह तथा एकाग्रचित्त होकर सीखने का प्रयास किया। मुझे सफलता मिली।"

डॉ. स्रुज ने ३०० भाषाएँ सीखीं। किन्तु हम? हम एक भी भाषा भलीभाँति सीख नहीं पाते। क्यों? हमारे भीतर वह तीव्र इच्छा नही है। हम सीखना नहीं चाहते। अब्राहम लिंकन में वकील बनने की तीव्र आकांक्षा थी। एक बार ब्लेक स्टोन की पुस्तकें लाने के लिये वे ६४ कि.मी. पैदल चले थे!

तीव्र इच्छा व प्रचण्ड आकांक्षा की शक्ति ऐसे वातावरण की सृष्टि करती है, जिसमें लक्ष्य की प्राप्ति सहज हो जाती है। आध्यात्मिक जगत में भी यदि तीव्र इच्छा व अति प्रचण्ड व्याकुलता हो तो ईश्वर के दर्शन तक हो सकते हैं। श्रीरामकृष्ण का कहना है कि तीव्र व्याकुलता ऊषाकाल के समान है, जिसके बाद सूर्योदय में देरी नहीं होती। ऐसी है तीव्र व्याकुलता की चामत्कारिक शक्ति!

यदि मनुष्य के हृदय में कुछ जानने के लिए की तीव्र इच्छा न हो, कुछ प्राप्त करने की व्याकुलता न हो, तो उसके समक्ष केवल अन्धकार ही होगा। वह वस्तु उसके सामने कभी नहीं आती।

डॉ. एलेक्सिस कैरोल लिखते हैं, "सत्य के अनन्त महासागर में मनुष्य जो चाहता है, केवल उतना ही पाता है। असीसी के सन्त फ्रान्सिस ने ईश्वर को और आइन्स्टीन ने भौतिकी के सिद्धान्त पाए। रुइस्ब्रोक के अनुसार देश-काल के परे बुद्धि के पीछे स्थित उस अवर्णनीय क्षेत्र में केवल प्रेम तथा आतुरता से ही प्रवेश मिलता है और उसी में ईश्वर के दर्शन होते हैं।"[1] क्या ये शब्द इस बात के द्योतक नहीं हैं कि कठोर संघर्षों के द्वारा कोई भी सफलता के शिखर पर पहुँच सकता है?

देश के विभिन्न मन्दिरों में ईश्वर की अनेक प्रतिमाएँ हैं। क्या आपने इनकी मुद्राएँ देखी हैं? वे बड़ी सांकेतिक हैं। वर तथा अभय की मुद्राओं के द्वारा वे अपने भक्तों को सर्वदा यही सन्देश देती हैं, 'डरो मत, तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी!'

मन में यदि इच्छा हो, तो वह कभी-न-कभी पूरी अवश्य होगी। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान परमात्मा ने मनुष्यों की इच्छा पूर्ण करने और इसी पृथ्वी पर कर्मों का फल देने के लिये इस संसार की रचना की। एक दिन आपकी तीव्र आकांक्षा अवश्य पूर्ण होगी। वास्तव में इच्छाओं से मुक्ति की दिव्य अवस्था की उपलब्धि के लिये आपके भीतर इच्छा का होना आवश्यक है, क्योंकि एक काँटे से दूसरा काँटा निकालने के समान ही इच्छा के द्वारा ही इच्छा का नाश किया जा सकता है। तुम पूछोगे क्या बुरी इच्छाएँ भी पूर्ण होती हैं। अवश्य होती हैं, परन्तु उनका फल दुखदायी होता है। रावण तथा दुर्योधन की बुरी इच्छाएँ पूर्ण हुईं, परन्तु दु:ख-कष्ट तथा सर्वनाश के अतिरिक्त उन्हें और क्या मिला! वे रामायण तथा महाभारत के खलनायक माने गये।

जो चाहो वही मिलेगा, पर यह जानना होगा कि हमें क्या चाहिए, अन्यथा कुछ नहीं होगा। लक्ष्यहीन जीवन से निराशा, अपमान, हीन-भावना तथा दु:ख की ही प्राप्ति होती है। और संक्षेप में यह परम अक्षम तथा दु:खान्त जीवन सिद्ध होता है।

विकास का मंत्र

जीवन की अपनी वर्तमान अवस्था से उठकर प्रगति तथा उपलब्धि के मार्ग पर आरूढ़ होने के क्या साधन हैं?

इसके लिए आवश्यकता है – आगे बढ़ने, ऊपर उठने तथा सर्वांगीण श्रेष्ठता प्राप्त करने की प्रबल इच्छा की। आपके मन में अपने लक्ष्य तथा उस तक पहुँचने के मार्ग के विषय में स्पष्ट धारणा होनी चाहिए।

अपनी इच्छा के विषय में स्थिर तथा शान्त मन से विचार कीजिए। इच्छाएँ वास्तविक तथा व्यावहारिक हों। स्वयं में बरामदे में उछलने की शक्ति हो, तभी हमें आकाश में उछलने की सोचनी चाहिए। तात्पर्य यह कि हम हवाई किले बनाने का प्रयास न करें।

सम्भव है कि नवीं कक्षा में पढ़ते समय हमारे भीतर एक वायुयान चालक बनने की इच्छा जागी हो। यह एक असम्भव इच्छा नहीं है, परन्तु इसे पूरी करने के लिये अनेक छोटी छोटी आवश्यकताएँ पूरी करनी होगी। इसके लिए अच्छी दृष्टि, अच्छा स्वास्थ्य, साहसी तथा शान्त मन और अच्छे अंकों के साथ परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना आवश्यक है।

अपनी इच्छाओं को समझो और उन्हें तत्काल पूर्ण करने में लग जाओ। उस क्षेत्र में सफल होनेवालों की जीवनियाँ पढ़ो। यह जान लो कि अपनी इच्छापूर्ति के लिये उन लोगों ने कैसे कैसे दु:ख-कष्ट सहे। यदि उनसे मिलना सम्भव हो तो उनसे अपनी समस्याएँ कहो और उनके बताए हल पर ध्यान दो। न भूलो कि छल-कपट से सच्ची सफलता नहीं मिलती।

असफलताएँ हमें निरुत्साहित न करें। हमें अपनी असफलताओं के कारणों की खोज करने के बाद धैर्यपूर्वक अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाना होगा।

लक्ष्य तथा साधन

एक बार स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "अपने जीवन में मैंने जो श्रेष्ठतम पाठ पढ़े हैं, उनमें से एक यह है कि किसी भी कार्य के साधनों के विषय में उतना ही सावधान रहना चाहिए, जितना कि उसके साध्य के विषय में। जिनसे मैंने यह बात सीखी, वे एक महापुरुष थे। यह महान् सत्य स्वयं उनके जीवन में प्रत्यक्ष रूप से परिणत हुआ था। इस एक सत्य से मैं सदा बड़े बड़े पाठ सीखता रहा हूँ और मेरा यह मत है कि सब प्रकार की सफलताओं की कुंजी इसी तत्त्व में है – साधनों पर भी उतना ही ध्यान देना जरूरी है, जितना साध्य पर।

"हमारे जीवन में एक बड़ा दोष यह है कि हम आदर्श से ही इतना अधिक आकृष्ट रहते हैं, लक्ष्य ही हमारे लिए इतना अधिक आकर्षक होता है, ऐसा मोहक होता है और हमारे मानस-क्षितिज पर इतना विशाल बन जाता है कि बारीकियाँ हमारी दृष्टि से ओझल हो जाती हैं।

"परन्तु कभी असफलता मिलने पर हम यदि बारीकी से उसकी छानबीन करें, तो ९९% यही पायेंगे कि उसका कारण था – हमारा साधनों की ओर ध्यान न देना। हमे अपने साधनों को पुष्ट करने की और उन्हें पूर्ण बनाने की आवश्यकता है। यदि हमारे साधन बिल्कुल ठीक हैं, तो साध्य की प्राप्ति होगी ही। हम यह भूल जाते है कि कर्म ही फल का जन्मदाता है, फल स्वत: उत्पन्न नहीं हो सकता। जब तक कर्म अभीष्ट, समुचित तथा सशक्त न हों, फल की उत्पत्ति नही होगी। एक

1. Dr. Alexis Carrel, Reflections on Life, Jaico

बार हमने ध्येय निश्चित कर लिया और उसके साधन पक्के कर लिए कि फिर हम ध्येय को लगभग छोड़ सकते हैं, क्योंकि हमें विश्वास है कि यदि साधन पूर्ण है, तो साध्य प्राप्त होगा ही। जब कारण विद्यमान है, तो कार्य की उत्पत्ति होगी ही। उसके बारे में विशेष चिन्ता की कोई आवश्यकता नहीं। यदि कारण के विषय में हम सावधान रहें, तो कार्य स्वयं सम्पन्न हो जायेगा। कार्य है ध्येय की सिद्धि; और कारण है साधन। इसलिए साधन पर ध्यान देते रहना जीवन का एक बड़ा रहस्य है।''

एक बार प्रख्यात संगीतकार बीथोवन अपनी कला की एक प्रस्तुति के उपरान्त अपने मित्रों तथा प्रशंसकों से घिरे खड़े थे। उनकी अद्भुत कला पर सभी लोग विस्मय-विमुग्ध होकर उनकी ओर आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे। वे लोग आह्लाद से इतने अभिभूत हो गये थे कि उनके मुख से कोई शब्द नहीं निकल रहे थे। वे सभी उनके संगीत की माधुरी में तन्मय हो गये थे। एक उत्साहित महिला ने उस गम्भीर निस्तब्धता को भंग करते हुए कहा, ''अहा! यदि ईश्वर ने मुझे भी संगीत की ऐसी असाधारण क्षमता दी होती ... !''

बीथोवन ने उत्तर दिया, ''तुम्हारा कहना है कि यह असाधारण गुण मुझे ईश्वर ने दिया है। याद रखना, तुम्हें भी यह उपहार मिल सकता है। जानती हो कैसे? ४० वर्षों तक प्रतिदिन आठ घण्टे पियानो पर अभ्यास करो। बस, इतना ही काफी है। फिर तुम मेरे जैसी ही हो जाओगी।'' सही मार्ग हमें लक्ष्य तक अवश्य पहुँचाता है – क्या यह घटना इस शाश्वत सिद्धान्त की पुष्टि नही करती?

प्रसिद्ध संगीतशास्त्री वासुदेवाचार्य ने अपने संस्मरणों में एक महान् वायलिन वादक की अपूर्व उपलब्धियों के विषय में बताया है। उसका नाम था कृष्ण अय्यर। कृष्ण अय्यर की वायलिन पर कुशलता का आचार्य ने एक उदाहरण दिया है। कृष्ण अय्यर एक बार एक संगीत-कार्यक्रम में वायलिन पर संगत कर रहे थे। तभी अचानक वायलिन का एक तार टूट गया। गायक ने उसकी ओर ऐसी दृष्टि से देखा मानो कह रहा हो कि ठीक से संगत न कर पाने के कारण ही तुमने जान-बूझकर तार को तोड़ दिया है। कृष्ण अय्यर के मन में तीक्ष्ण प्रतिक्रिया हुई और वे बोले, ''क्या तुम समझते हो कि तुम्हारे साथ संगत करने के लिये मुझे चार तार चाहिए? देखो मैं अन्य तार भी निकाल देता हूँ।'' उन्होंने वायलिन को एक ही तार से बजाया और भलीभाँति गायक की संगति की!

इस घटना से यही निष्कर्ष निकलता है कि ऐसी विलक्षण विजय के पीछे वर्षों का निष्ठापूर्ण, सतत और अथक अभ्यास रहा करता है। कोई भी महान् व्यक्ति आरम्भ से ही महान् नहीं हुआ करता है। और कोई जन्म से ही प्रतिभाशाली भी नहीं होता। अधिकांश महान् लोगों ने निरन्तर प्रयास तथा अभ्यास के द्वारा ही महानता की उपलब्धि की है। यदि मार्ग का चुनाव ठीक ठीक हुआ हो, तो सफलता अवश्यम्भावी है। सामान्यतया हम क्या करते हैं? हम लक्ष्य के विषय में बारम्बार सोचते रहते हैं, जल्दबाजी में साधन चुन लेते हैं, शक्ति का अपव्यय कर देते हैं और आखिरकार निराश होते हैं। तब जैसे नीतिकथा की लोमड़ी ने अंगूरों को अपनी पहुँच से दूर जानकर उन्हीं को खट्टा कहा था, वैसे ही हम भी अपनी असफलता के लिए लक्ष्य को दोषी ठहराने लगते हैं। कम-से-कम अब तो हमें सही मार्ग को अपना लेना चाहिए और यही लक्ष्य-प्राप्ति की दिशा में लगभग आधी उपलब्धि है।

❖ (क्रमश:) ❖

स्वाध्याय का महत्व

शास्त्रीय ज्ञान दो प्रकार के हैं। एक है वाद (विचारात्मक) और दूसरा है सिद्धान्त (मीमासांतमक)। अज्ञान की अवस्था में मनुष्य प्रथमोक्त प्रकार के शास्त्रीय ज्ञान के अनुशीलन में प्रवृत्त होता है, वह तर्कयुद्ध के समान है - प्रत्येक वस्तु के सब पहलू देखकर विचार करना; इस विचार का अन्त होने पर वह किसी एक मीमासा या सिद्धान्त पर पहुँचता है। किन्तु केवल सिद्धान्त पर पहुँचने से नहीं हो जाता। इस सिद्धान्त के बारे में मन की धारणा को दृढ़ करना होगा। ... पहले पहल बुद्धि की कसरत आवश्यक होती है। अन्धे के समान कुछ भी लेने से नहीं बनता। पर जो योगी हैं, वे इस युक्ति-तर्क की अवस्था को पारकर एक ऐसे सिद्धान्त पर पहुँच चुके हैं, जो पर्वत के समान अचल-अटल है। वे कहते हैं - वाद-विवाद मत करो; यदि कोई तुम्हें वाद-विवाद करने को बाध्य करे, तो चुप रहो। किसी वाद-विवाद का जवाव न देकर शान्त भाव से वहाँ से चले जाओ; क्योंकि वाद-विवाद के द्वारा मन केवल चचल ही होता है। ये सब वाद-विवाद, युक्ति-तर्क केवल प्रारम्भिक अवस्था के लिए हैं।

— *स्वामी विवेकानन्द*

केनोपनिषद् (३)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा अन्य गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्री शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। उनमें से ईशोपनिषद् के बाद अब हम केनोपनिषद् पर शांकर भाष्य का सरल हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ पर भाष्य की अधिकांश कठिन सन्धियों को खोलकर सरल रूप देने का प्रयास किया है और उसमें आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को समझने में सुविधा हो सके। – सं.)

यस्मात् श्रोत्रादे: अपि श्रोत्रादि-आत्मभूतं ब्रह्म, अत: –

ब्रह्म चूँकि श्रोत्रादि का श्रोत्र अर्थात् स्वरूपभूत है, अत: –

आत्मा की अज्ञेयता

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागू-गच्छति नो मनो
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ।।३।।

अन्वयार्थ – **तत्र** उस ब्रह्म में **चक्षु:** नेत्र **न गच्छति** नहीं जाता **वाक्** वाणी **न गच्छति** नहीं जाती **नो मन:** (उसे) मन प्रकाशित नहीं करता **न विद्म:** हम नहीं जानते (कि वह ब्रह्म कैसा है, अत:) **न विजानीम:** यह भी नहीं जानते कि **यथा एतत्** जिस प्रकार इसका **अनुशिष्यात्** उपदेश दिया जाय।

भावार्थ – वहाँ (ब्रह्म में) नेत्र नहीं जाते, वाणी नहीं जाती और मन (भी) नहीं जाता। हम (ब्रह्म को लक्षणों से) नहीं जानते। (अत: मन-वाणी के अतीत होने के कारण) हमें नहीं मालूम कि इसका किस पद्धति से उपदेश किया जाय।

शांकर भाष्य - न तत्र तस्मिन् ब्रह्मणि चक्षु: गच्छति, स्व-आत्मनि गमन-असम्भवात् । तथा न वाग् गच्छति । वाचा हि शब्द उच्चार्यमाणो अभिधेयं प्रकाशयति यदा, तदा अभिधेयं प्रति वाग् गच्छति इति उच्यते । तस्य च शब्दस्य तत्-निर्वर्तकस्य च करणस्य आत्मा ब्रह्म । अतो न वाग् गच्छति यथा अग्नि: दाहक: प्रकाशक: च अपि सन् न हि आत्मानं प्रकाशयति दहति वा, तद्वत् ।

न तत्र अर्थात् उस ब्रह्म में नेत्र नहीं जा सकते, क्योंकि अपने स्वरूप में जाना असम्भव है। वैसे ही वाणी भी (उसमें) नहीं जाती। जब वाणी के द्वारा उच्चरित हुआ शब्द अपने विषय-वस्तु का बोध कराता है, तब हम कहते हैं कि वाणी अपने विषय में पहुँच गयी। ब्रह्म (ही) इस शब्द तथा उसे सिद्ध करनेवाली इन्द्रिय का स्वरूप है। अत: वाणी (उसमें) उसी प्रकार नहीं जाती, जैसे कि अग्नि दाहक तथा प्रकाशक होते हुए भी स्वयं को आलोकित या दहन नहीं करता।

नो मन: मन: च अन्यस्य सङ्कल्पयितृ अध्यवसायितृ च सन् न आत्मानं सङ्कल्पयति अध्यवस्यति च, तस्य अपि ब्रह्म आत्मा इति । इन्द्रिय-मनोभ्यां हि वस्तुनो विज्ञानम् । तद् अगोचरत्वात् न विद्म: तद् ब्रह्म ईदृशम् इति ।

और मन (भी) उसमें नहीं जाता। मन अन्य पदार्थों के विषय में संकल्प (विचार) तथा निश्चय (निर्धारण) करने में समर्थ होकर भी, ब्रह्म ही उसका स्वरूप होने के कारण (वह) अपने विषय में संकल्प या निश्चय नहीं कर सकता। इन्द्रिय तथा मन के संयोग से (ही) विषय (वस्तु) का बोध होता है। परन्तु वह (ब्रह्म) इनका अगोचर (अविषय) होने के कारण हम नहीं जानते कि ब्रह्म ऐसा (ऐसे लक्षणोंवाला) है।

अतो न विजानीमो यथा येन प्रकारेण एतद् ब्रह्म अनुशिष्यात् उपदिशेत् शिष्याय इति अभिप्राय: । यद् हि करण-गोचरं तद् अन्यस्मै उपदेष्टुं शक्यं जातिगुण-क्रिया-विशेषणै: । न तत् जाति-आदि-विशेषणवद्-ब्रह्म तस्माद् विषमं शिष्य-अनुपदेशेन प्रत्याययितुम् इति उपदेशे तद्-अर्थग्रहणे च यत्न-अतिशय-कर्तव्यतां दर्शयति ।

अत: हम नहीं जान सकते कि किस प्रकार शिष्य को इस ब्रह्म का उपदेश दें – ऐसा तात्पर्य है। (क्योंकि) जो वस्तु इन्द्रियों से ग्राह्य है, उसी का जाति, गुण, क्रिया आदि विशेषताओं के माध्यम से उपदेश दिया जा सकता है। (परन्तु) वह ब्रह्म जाति आदि विशेषताओं से रहित है, अत: उपदेश के द्वारा शिष्य को उसका बोध कराना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार उपनिषद् बताती है कि उपदेश देने और उसका तात्पर्य समझने में अतिशय प्रयत्न की आवश्यकता होती है।

'न विद्मो न विजानीमो यथा एतद् अनुशिष्यात्' इति अत्यन्तम् एव उपदेश-प्रकार-प्रत्याख्याने प्राप्ते तद्-अपवादो अयम् उच्यते । सत्यम् एवं प्रत्यक्ष-आदिभि: प्रमाणै: न पर: प्रत्याययितुं शक्य: ; आगमेन तु शक्यते एव प्रत्याययितुम् इति तद्-उपदेशार्थम् आगम आह –

'हमें नहीं मालूम कि इसका किस पद्धति से उपदेश किया जाय' – इस तरह उसका उपदेश देने की प्रणाली की असम्भवता सिद्ध हो जाने के बाद इस (अगले) श्लोक में उसका अपवाद बताया जाता है। यद्यपि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा परब्रह्म का बोध नहीं कराया जा सकता, तथापि श्रुति (वेद) के द्वारा उसका बोध कराया जा सकता है। अत: उस (ब्रह्म) का उपदेश देने के निमित्त श्रुति कहती है –

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ।।४।।

अन्वयार्थ – **तत्** वह ब्रह्म **विदितात्** ज्ञात वस्तु से **अन्यत् एव** पृथक् ही है । **अथो** तथा **अविदितात्** अज्ञात से **अधि** ऊपर है । **इति पूर्वेषाम्** ऐसा हमने पूर्व के आचार्यों से **शुश्रुम** सुना है, **ये** जिन्होंने **नः** हमारे लिए **तत्** उस ब्रह्म की **व्याचचक्षिरे** व्याख्या की थी ।

भावार्थ – यह (ब्रह्म) ज्ञात (वस्तुओं) से भिन्न है और फिर अज्ञात (वस्तुओं) से भी परे है – ऐसा हमने अपने पूर्वजों से सुना है, जिन्होंने हमारे लिए इसकी व्याख्या की थी ।

शांकर भाष्य - अन्यद् एव पृथक् एव तद् यत्प्रकृतं श्रोत्र-आदीनां श्रोत्रादि-इति उक्तम् अविषयं च तेषाम् । तद् विदिताद् अन्यद् एव हि । विदितं नाम यद् विदि-क्रियया-अतिशयेन आप्तं विदि-क्रिया-कर्मभूतं क्वचित् किञ्चित् कस्यचिद् विदितं स्यात् इति । सर्वम् एव व्याकृतं विदितम् एव; तस्माद् अन्यद् एव इत्यर्थः ।

'अन्यद् एव' अर्थात् पृथक् ही है, तद् अर्थात् वह (ब्रह्म) जिसे इस प्रकरण में 'श्रोत्र आदि का श्रोत्र' कहकर उन (इन्द्रिय आदि) का अविषय बताया गया है, वह ज्ञात वस्तुओं से पृथक् है । (अन्तःकरण द्वारा) जानने की क्रिया से जो वस्तु ग्राह्य एवं जानने की क्रिया का विषय है, उसे विदित (ज्ञात) कहते हैं । (ऐसी) प्रत्येक स्थूल वस्तु कुछ-न-कुछ, किसी-न-किसी को ज्ञात होती ही है । (इस प्रकार) सभी स्थूल वस्तुएँ ज्ञात ही हैं । अतः तात्पर्य हुआ कि (यह) उस (ज्ञात) से पृथक् ही है ।

अविदितम् अज्ञातं तर्हि इति प्राप्ते आह - अथो अपि अविदिताद् विदित-विपरीताद् अव्याकृताद्-अविद्या-लक्षणाद् व्याकृत-बीजात्, अधि इति उपरि-अर्थे, लक्षणया अन्यद् इत्यर्थः । यद् हि यस्माद् अधि उपरि भवति, तत् तस्माद् अन्यद् इति प्रसिद्धम् ।

(ज्ञात से परे है) तो फिर वह अविदित अर्थात् अज्ञात होगा – ऐसा निष्कर्ष न निकले, इसलिए श्रुति कहती है कि वह अविदित अर्थात् विदित के विपरीत, व्यक्त (स्थूल) के बीजभूत अव्यक्त अविद्या के अधि अर्थात् ऊपर, लक्षणा से इसका अर्थ हुआ कि 'पृथक्' है । (क्योंकि) यह सभी जानते हैं कि जो चीज जिसके ऊपर होती है, वह उससे पृथक् होती है ।

यद् विदितं तद् अल्पं मर्त्यं दुःखात्मकं च इति हेयम् । तस्माद् विदिताद् अन्यद् ब्रह्म इति उक्ते तु अहेयत्वम् उक्तं स्यात् । तथा अविदिताद् अधि इति उक्ते अनुपादेयत्वम् उक्तं स्यात् । कार्यार्थं हि कारणम् अन्यद् अन्येन उपादीयते । अतः च न वेदितुः अन्यस्मै प्रयोजनाय अन्यद् उपादेयं भवति इति । एवं विदित-अविदिताभ्याम् अन्यद् इति हेय-उपादेय-प्रतिषेधेन स्व-आत्मनो अनन्यत्वाद् ब्रह्म-विषया जिज्ञासा शिष्यस्य निवर्तिता स्यात् । न ह्यन्यस्य स्वात्मनो विदित-अविदिताभ्याम् अन्यत्वं वस्तुनः सम्भवति इति आत्मा ब्रह्म इति एष वाक्यार्थः ; 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डू. उ. २) 'य आत्मा अपहत-पाप्मा' (छा. उ. ८/७/१) 'यत्साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ. उ. ३/४/१) 'य आत्मा सर्वान्तरः' (बृ. उ. ३/४/१) इत्यादि-श्रुत्यन्तरेभ्यः च इति ।

जो भी विदित वस्तु है, वह अल्प (सीमित), क्षणभंगुर तथा दुःखमय है और इस कारण हेय अर्थात् त्याज्य है । अतः 'ब्रह्म विदित से भिन्न है' – ऐसा कहकर उसकी अत्याज्यता (जिसे छोड़ा नहीं जा सकता) बतायी गयी है । उसी प्रकार 'अविदित से परे है' – इस उक्ति के द्वारा उसकी अग्राह्यता (जिसे पकड़ा न जा सके) कह दिया गया है । किसी कार्य को सम्पन्न करने के लिए ही व्यक्ति अपने से पृथक् कारण (साधन) को ग्रहण करता है । इसलिए ज्ञाता (आत्मा) को किसी अन्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए कोई अन्य साधन ग्रहणीय नहीं होता । इस प्रकार 'विदित तथा अविदित से पृथक् है' – इस उक्ति के द्वारा उसकी त्याज्यता तथा ग्राह्यता का निषेध करके अपने से अभिन्न होने के कारण शिष्य की ब्रह्म-विषयक जिज्ञासा दूर हो जाती है । अपनी आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु का विदित तथा अविदित से परे होना सम्भव नहीं है । अतः इसका तात्पर्य हुआ कि आत्मा ही ब्रह्म है । अन्य श्रुतियों से भी यही प्रमाणित होता है – 'यह आत्मा ब्रह्म अर्थात् व्यापक है'; 'वह आत्मा पाप से रहित है'; 'जो साक्षात् और अपरोक्ष है, वही ब्रह्म है'; 'जो आत्मा सबके अन्तर में स्थित है ।'

एवं सर्वात्मनः सर्व-विशेष-रहितस्य चिन्मात्र-ज्योतिषो ब्रह्मत्व-प्रतिपादकस्य वाक्यार्थस्य आचार्य-उपदेश-परम्परया प्राप्तत्वम् आह - इति शुश्रुम इत्यादि । ब्रह्म च एवम् आचार्य-उपदेश-परम्परया एव अधिगन्तव्यं न तर्कतः प्रवचन-मेधा-बहुश्रुत-तपो-यज्ञ-आदिभ्यः च, इति एवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं पूर्वेषाम् आचार्याणां वचनम् ; ये आचार्याः नः अस्मभ्यं तद् ब्रह्म व्याचचक्षिरे व्याख्यातवन्तः विस्पष्टं कथितवन्तः, तेषाम् इत्यर्थः ।।४।।

इस प्रकार सबके आत्मारूप, समस्त गुणों से रहित, चैतन्यमात्र, ज्योतिर्मय तत्त्व का ब्रह्मत्व सिद्ध करनेवाले वाक्य का अर्थ आचार्य (तथा शिष्य) की उपदेश-परम्परा के द्वारा ही प्राप्य है, यही बताते हुए 'इति शुश्रुम' आदि कहते हैं । तात्पर्य यह कि ब्रह्म की प्राप्ति तर्क, शास्त्रपाठ, (तीक्ष्ण) मेधाशक्ति, पाण्डित्य, तपस्या, यज्ञ आदि से नहीं, बल्कि आचार्यों की उपदेश-परम्परा के द्वारा ही प्राप्तव्य है । ऐसा हमने उन पूर्व के आचार्यों से सुना है, जिन्होंने हमारे लिए उस ब्रह्म की व्याख्या की थी अर्थात् स्पष्ट रूप से बताया था ।।४।।

❖ (क्रमशः) ❖

ईसप की नीति-कथाएँ (३)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व जन्मे ईसप के जीवन के विषय में ज्यादा जानकारी नहीं मिलती । कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करने वाले एक गुलाम थे । उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है । सुकरात तथा सिकन्दर के युग में भी अनेक भारतवासी उन देशों की यात्रा किया करते थे, इस कारण प्राचीन यूनान की कथाओं पर भारतीय प्रभाव होना कोई असम्भव बात नहीं है । इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु तथा मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं । इनकी लोकप्रियता का यही रहस्य है । – सं.)

दो मित्र और भालू

दो मित्र एक साथ भ्रमण करने निकले थे । संयोगवश उसी समय वहाँ एक भालू आ पहुँचा । एक मित्र तो भालू को देखते ही अत्यन्त भयभीत होकर दूसरे मित्र की परवाह किये बिना ही भागकर निकट के पेड़ पर चढ़ गया । दूसरे मित्र ने अकेले भालू के साथ लड़ना असम्भव जानकर और दूसरा कोई चारा न देखकर, मुर्दे के समान धरती पर लोट गया । उसने पहले सुन रखा था कि भालू मरे हुए आदमी को हानि नहीं पहुँचाता ।

भालू ने आकर उसके नाक, कान, मुख, आँख तथा सीने की परीक्षा की और उसे मरा हुआ समझकर चला गया । भालू के चले जाने के बाद पहला मित्र पेड़ से नीचे उतरा । उसने दूसरे मित्र से जाकर पूछा – भाई, भालू तुम्हें क्या कह गया । मैंने देखा कि वह बड़ी देर तक तुम्हारे कान से अपना मुख लगाये हुए था ।

दूसरा मित्र बोला – भालू मुझे यही कह गया कि जो मित्र संकट के समय छोड़कर भाग जाता है, उसके साथ फिर कभी बातचीत मत करना ।

भेड़िये और भेंड़ों का दल

एक स्थान पर कुछ भेंड़ें चरा करती थीं । कुछ बलवान कुत्ते वहाँ उनकी रखवाली किया करते थे । भेड़िये उन कुत्तों के भय से उन भेंड़ों पर आक्रमण नहीं कर पाते थे । एक बार भेड़ियों ने आपस में सलाह की कि इन कुत्तों के रहते हम लोग कुछ नहीं कर सकेंगे; कोई युक्ति निकालकर इन्हें दूर हटाये बिना हमारा काम नहीं चलेगा । अत: कोई ऐसा उपाय करना होगा, जिससे ये भेंड़ों के पास से चले जायँ ।

ऐसा निश्चय करके उन लोगों ने, भेंड़ों के पास सन्देशा भेजा कि आओ, हम लोग अब आपस में सन्धि कर लें । क्यों हम चिरकाल तक आपस में विवाद करते हुए मरें! जो कुत्ते तुम लोगों की रक्षा करते हैं, वे ही सारे विवादों की जड़ हैं । वे लोग निरन्तर चिल्लाते रहते हैं, इसी से हम लोगों को बड़ा क्रोध आता है । उन लोगों का साथ छोड़ दो, तो फिर चिरकाल तक हम लोगों के बीच आपसी सद्भाव बना रहेगा ।

अबोध भेंड़ों ने इस भुलावे में आकर कुत्तों से नाता तोड़ लिया । इस प्रकार उनके रक्षकरहित हो जाने के बाद भेड़ियों ने सहज ही उन्हें मारकर यथेच्छा पेट भरना आरम्भ कर दिया । शत्रु की बातों में आकर अपने हितैषी मित्र को त्याग देने से निश्चित रूप से संकट आता है ।

विधवा और मुर्गी

किसी गाँव में एक गरीब विधवा निवास करती थी । उसने कुछ मुर्गे-मुर्गियाँ पाल रखे थे । मुर्गियाँ प्रतिदिन जो अण्डे देतीं, उन्हें वह निकट के बाजार में ले जाकर बेच आती । इस बिक्री से प्राप्त धन के द्वारा वह बड़े कष्टपूर्वक अपनी आजीविका चला रही थी । सभी मुर्गियों में एक मुर्गी उस गरीब महिला को विशेष प्रिय थी, क्योंकि वह मुर्गी प्रतिदिन सुबह नियमित रूप से एक अण्डा दिया करती थी । इस कारण विधवा उसे अन्य मुर्गियों की अपेक्षा अधिक धान खिलाती थी । एक दिन विधवा ने सोचा – यदि इतना-सा धान खाकर मुर्गी प्रतिदिन एक अण्डा देती है, अब यदि उसे रोज दुगुना भोजन दिया जाय, तब तो वह जरूर दो अण्डे देगी । ऐसा होने पर तो मैं उन अण्डों को बेचकर दुगुने पैसे कमा लूँगी ।

भविष्य में अधिक पैसा कमाने की आशा से उत्फुल्ल होकर विधवा ने उसी दिन से अपनी उस प्रिय मुर्गी के भोजन की मात्र दुगुनी कर दी । लगभग दो-तीन दिन तो मुर्गी पहले के समान ही अण्डे देती रही, परन्तु उसके बाद अधिक आहार के फलस्वरूप वह क्रमश: जितनी ही मोटी होने लगी, उतना ही दो-एक दिन नागा करके अण्डे देने लगी । आखिरकार मुर्गी इतनी मोटी हो गयी कि उसने अण्डे देना बिल्कुल ही बन्द कर दिया । इस पर विधवा अपना सिर पीटते हुए बोली, ''हाय! मैं अपने बुद्धि के दोष से लालच करने जाकर सब खो बैठी ।''

शिकार का न्यायपूर्ण बँटवारा

एक सिंह, एक गधा और एक सियार – तीनों मिलकर शिकार करने गये थे । शिकार हो जाने के बाद, उन लोगों ने सोचा कि आपस में समुचित रूप से बँटवारा कर लेने के बाद आराम से भोजन करेंगे । सिंह ने गधे को बँटवारा

करने की आज्ञा दी । गधे ने तीन बराबर बराबर हिस्से करके अपने मित्रों से एक एक भाग ले लेने को कहा । इस पर सिंह ने अत्यन्त क्रोधित होकर तत्काल पंजे के प्रहार से गधे को टुकड़े टुकड़े कर डाला ।

इसके बाद सिंह ने सियार को बँटवारा कर देने को कहा । सियार गधा नहीं, बल्कि अत्यन्त धूर्त था । सिंह का अभिप्राय समझकर उसने शिकार का अधिकांश भाग सिंह को देकर अपने लिये थोड़ा-सा ही रखा । इस पर सिंह सन्तुष्ट होकर बोला – मित्र, किसने तुम्हें ऐसा न्यायपूर्ण बँटवारा सिखाया है? सियार बोला – जब मैंने अपनी आँखों से ही गधे की हालत देख ली, तो फिर किसी अन्य शिक्षा की क्या आवश्यकता है?

खरगोश और शिकारी कुत्ता

किसी जंगल में एक शिकारी कुत्ता एक खरगोश को पकड़ने के लिये उसके पीछे दौड़ रहा था । अपने प्राणों के भय से खरगोश इतनी तेजी से दौड़ने लगा कि कुत्ता कितना भी प्रयास करके उसे पकड़ने में सफल नहीं हुआ । खरगोश पूरी तौर से उसकी दृष्टि से ओझल हो गया । एक चरवाहा यह तमाशा देख रहा था । वह हँसते हुए बोला – कितने आश्चर्य की बात है! इतना छोटा-सा जन्तु होकर भी खरगोश ने दौड़ में कुत्ते को पराजित कर दिया । यह सुनकर कुत्ता बोल उठा – अरे भाई, क्या तुम नहीं जानते कि प्राणों के भय से दौड़ने और भोजन के प्रयास में दौड़ने के बीच कितना अन्तर है!

खरगोश और कछुआ

कछुआ अपने स्वभाव से ही बड़ी धीमी गति से चलता है । एक खरगोश इसी बात को लेकर एक कछुए की खिल्ली उड़ा रहा था । सुनकर कछुआ भी हँसते हुए बोला – "ठीक है भाई, ज्यादा बात करने की जरूरत नहीं है । एक दिन निश्चित कर लो । उस दिन हम दोनों एक साथ चलना आरम्भ करेंगे और अन्त में देखा जायेगा कि निर्दिष्ट स्थान पर कौन पहले पहुँचता है ।" खरगोश ने कहा – "दूसरे दिन की क्या जरूरत; चलो आज ही देख लें; अभी समझ में आ जायेगा कि कौन कितना चल सकता है ।"

ऐसा निर्धारित करने के बाद दोनों ने एक साथ ही वहाँ से चलना आरम्भ किया । कछुआ भले ही धीरे धीरे चलता था, परन्तु एक बार चलना आरम्भ करने के बाद वह जरा भी ठहरे बिना निरन्तर चलता रहा । दूसरी तरफ खरगोश बड़े वेग से चल सकता था, इसलिये उसने सोचा कि कछुआ चाहे जितना भी चलता रहे, मैं तो उसके पहले पहुँच ही जाऊँगा । थोड़ी दूर जाने के बाद ऐसा सोचकर वह अपनी थकान मिटाने के लिये लेट गया और उसे निद्रा भी आ गई । नींद टूटने के बाद उसने निर्दिष्ट स्थान पर जाकर देखा कि कछुआ उसके काफी पहले ही पहुँच चुका है ।

धीमी गति से भी, परन्तु दृढ़तापूर्वक चलनेवाला अन्त में सफलता हासिल करता है ।

किसान और उसके पुत्र

एक किसान को खेती के बहुत से गुर मालूम थे, परन्तु उसके पुत्रों में उन्हें सीखने का धैर्य नहीं था । उसे बड़ी चिन्ता हुई कि मेरी मृत्यु के बाद ये लड़के कैसे अपनी आजीविका चलायेंगे! एक दिन उसने उन लोगों को बुलाकर कहा, "पुत्रो, मैं अब इहलोक से प्रस्थान करनेवाला हूँ । मेरी जो कुछ सम्पत्ति थी, उसे अमुक अमुक खेत के भीतर ढूँढ़ने से पा सकोगे ।" पुत्रों ने सोचा कि पिताजी ने उन उन स्थानों के भीतर अपना गुप्तधन गाड़ रखा है ।

किसान की मृत्यु के बाद गुप्तधन के लोभ में उन लोगों ने उन स्थानों को खोद डाला । अत्यन्त परिश्रम के साथ बहुत खोदने पर भी उन्हें खेतों के बीच कोई गुप्तधन नहीं मिला; परन्तु जमीन की बड़ी अच्छी खुदाई हो जाने के कारण उस वर्ष उसमें इतनी फसल हुई कि उन लोगों को अपने परिश्रम का पूरा फल मिल गया और खेती-विषयक एक महत्वपूर्ण शिक्षा भी मिल गयी ।

वृद्ध महिला और चिकित्सक

एक वृद्ध महिला की आँखें बड़ी कमजोर हो गयी थीं, इस कारण वे कुछ देख नहीं पाती थीं । पास ही में एक प्रसिद्ध चिकित्सक निवास करते थे । वृद्धा ने उनके पास जाकर कहा, "वैद्यजी, मेरे नेत्रों में दोष उत्पन्न हो गया है, मैं कुछ देख नहीं पाती । आप मेरी आँखों को ठीक कर दीजिये तो मैं आपको विशेष पुरस्कार दूँगी, परन्तु यदि आप उसे ठीक नहीं कर सके तो आपको कुछ भी नहीं मिलेगा ।"

चिकित्सक वृद्धा के प्रस्ताव से सहमत हुए और अगले दिन सुबह वे उनके घर जा पहुँचे । वृद्धा के घर में तरह तरह की चीजें भरी हुई देखकर चिकित्सक के मन में लोभ पैदा हुआ । उन्होंने सोचा कि मैं प्रतिदिन इन्हें देखने आऊँगा और एक एक चीज उठाकर लेता जाऊँगा । इस कारण उन्होंने शीघ्र ही पीड़ा दूर करने की औषधि न देकर, कुछ दिन इधर-उधर में बिता दिये । बाद में एक-एककर सारी चीजें ले जाने के बाद उन्होंने विधिवत् औषधि देना आरम्भ किया । थोड़े ही दिनों में वृद्धा के नेत्र पहले के समान ठीक हो गये । उन्होंने देखा कि घर में जो तरह तरह की चीजें थीं, उनमें से कुछ भी नहीं बचा

है । खोज करने पर पता चला कि चिकित्सक ही एक-एककर सब कुछ ले गये हैं ।

एक दिन चिकित्सक ने वृद्धा से कहा, "मेरी दवाई से आपकी बीमारी ठीक हो गई है । आपने कहा था कि ठीक हो जाने पर आप मुझे कोई विशेष पुरस्कार देंगी । अब अपने वचन के अनुसार पुरस्कार द्वारा सन्तुष्ट करके मुझे विदा कीजिये ।" वृद्धा चिकित्सक के आचरण से बड़ी नाराज थीं, इसलिये उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया । बारम्बार माँगने पर भी पुरस्कार पाने की कोई आशा न देख चिकित्सक ने न्यायालय में वृद्धा के नाम मुकदमा दायर कर दिया ।

वृद्धा न्यायाधीशों के सम्मुख उपस्थित हुईं और चिकित्सक को स्पष्ट शब्दों में चोर न कहकर युक्तिपूर्वक बोलीं, "वैद्यराज जो कुछ कह रहे हैं, उसमें सत्य तो है; मैंने स्वीकार किया था कि यदि वे मेरे नेत्रों को पहले के समान ठीक कर दें, तो मैं उन्हें पुरस्कार दूँगी । उनका कहना है कि मेरी आँखें ठीक हो चुकी हैं; परन्तु मैं जैसा देख रही हूँ, उससे तो नहीं लगता कि मेरी आँखें ठीक हो गई हैं; क्योंकि पहले जब मेरी आँखें ठीक थीं, उस समय मेरे घर में बहुत-सी चीजें भरी हुई थीं और मैं उन सबको देख पाती थी; बाद में आँखों में बीमारी हुई और मैं उन सब चीजों को देख नहीं पाती थी; अब भी मैं उन सब चीजों को देख नहीं पा रही हूँ । इसी कारण मुझे बोध हो रहा है कि उनकी चिकित्सा से मेरी आँखें ठीक नहीं हुई हैं । अब आप लोगों के विचार से जो उचित लगे, वैसा कीजिये ।"

न्यायाधीशों ने वृद्धा की बातों का मर्म समझकर हँसते हुए उन्हें दोषमुक्त कर दिया और चिकित्सक को उसके अपराधों के लिये भर्त्सना करते हुए उचित सजा की व्यवस्था की ।

खरगोश और मेढक

खरगोश बड़े दुर्बल और डरपोक प्राणी होते हैं । बलवान जानवर उन्हें देखते ही उन्हें मारकर खा जाते हैं । इस अत्याचार के कारण उन्हें सर्वदा अपने प्राणों के लिये शंकित रहना पड़ता है । इसी कारण उन लोगों ने आपस में सलाह करके यह निश्चित किया कि सर्वदा भयभीत रहकर जीवित रहने की अपेक्षा प्राण त्याग करना ही श्रेयस्कर है । इसलिये चाहे जैसे भी हो, हम लोग आज ही प्राण त्याग कर देंगे ।

ऐसी प्रतिज्ञा करने के बाद निकट के तालाब में कूदकर प्राण देने की इच्छा से सभी खरगोश वहाँ जा पहुँचे । उस तालाब के किनारे कुछ मेढक भी बैठे हुए थे । खरगोशों के निकट पहुँचते ही वे लोग भय से अत्यन्त व्याकुल होकर पानी में कूद पड़े ।

इसे देखकर खरगोशों का नेता अपने सहचरों से बोला, "मित्रो, हम लोगों को इतना भयभीत होना और स्वयं को इतना असहाय समझना उचित नहीं है । आप लोगों ने यहाँ आकर देखा कि कुछ प्राणी ऐसे भी हैं जो हमसे भी अधिक दुर्बल तथा डरपोक हैं ।"

मनुष्य को अपनी दुरवस्था के समय निराश नहीं होना चाहिये । हम चाहे जितनी भी कठिनाई में क्यों न हों, ऐसे अनेक लोग मिल जायेंगे, जिनकी अवस्था हमसे भी खराब होगी । बल्कि उनके प्रति संवेदना का भाव रखने से अपने कष्टों तथा कठिनाइयों की बात भी विस्मृत हो जाती है ।

किसान और सारस

प्रतिदिन कुछ बगुले आकर एक किसान के खेत की फसल बरबाद कर जाया करते थे । इसे देखकर किसान ने उन बगुलों को पकड़ने के लिये खेत में जाल बिछाकर रख दिया । बाद में उसने जाकर देखा तो बहुत से बगुले उसके जाल में फँसे हुए थे और उनके साथ ही एक सारस भी फँसा हुआ था । सारस ने किसान से कहा, "भाई किसान, मैं बगुला नहीं हूँ । मैंने तुम्हारी फसल बरबाद नहीं की है । मुझे छोड़ दो । तुम विचार करके देखो कि मेरी कोई गलती नहीं है । जितने भी पक्षी हैं, मैं उन सबकी अपेक्षा अधिक धर्म-परायण हूँ । मैं कभी किसी का नुकसान नहीं करता । मैं अपने वृद्ध माता-पिता का अतीव सम्मान करता हूँ और विभिन्न स्थानों में जाकर प्राणपण से उनका पालन-पोषण करता हूँ ।"

इस पर किसान बोला, "सुनो सारस, तुमने जो बातें कहीं, वे सब ठीक हैं, उन पर मुझे जरा भी सन्देह नहीं है । परन्तु चूँकि तुम फसल बरबाद करनेवालों के साथ पकड़े गये हो, इसलिये तुम्हें भी उन्हीं लोगों के साथ सजा भोगनी होगी ।"

स्वयं को जानो

तुम्हें कौन दुर्बल बना सकता है? तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है? जगत् में तुम्हीं तो एकमात्र सत्ता हो । उठो और मुक्त हो जाओ । मनुष्य को दुर्बल और भयभीत बनानेवाला संसार में जो कुछ है, वही पाप है और उसी से बचना चाहिए । तुम्हें कौन डरा सकता है? यदि सैकड़ों सूर्य पर्वत पर गिर पड़े, सैकड़ों चन्द्र चूर चूर हो जायँ, एक के बाद एक ब्रह्माण्ड नष्ट होते चले जाएँ, तो भी तुम्हारे लिए क्या? पर्वत की भाँति अटल रहो; तुम अविनाशी हो । तुम आत्मा हो, तुम्हीं जगत के ईश्वर हो । — *स्वामी विवेकानन्द*